हिमांजलि

जुलाई–दिसम्बर 2018

अंक 18

राजभाषा कार्यान्वयन समिति
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005

ISSN 2349-4905

राजभाषा कार्यान्वयन समिति
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005

संपादक

डॉ. रमाशंकर सिंह
अध्येता

डॉ. मनीषा चौधरी
अध्येता

संयोजक
राजेश कुमार
हिंदी अनुवादक

संरक्षक एवं प्रकाशक
सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005
दूरभाषः 0177–2831379, फैक्सः 0177–2830628
वेबसाइट : www.iias.ac.in

टाइपसेट
साईं ग्राफिक डिज़ाइन, नई दिल्ली– 110055
मुद्रक
दीपी, फाइन प्रिंटस, नई दिल्ली– 110064

प्रकाशित रचनाओं में अभिव्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के हैं,
उनसे संपादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

 ISSN 2349-4905

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
संपादकीय (1)		5
संपादकीय (2)		7

आलेख

1.	कवि अरूण कमल : यथार्थ और करुणा *डॉ. अखिलेश शंखधर*	8
2.	हिन्दी–उर्दू कविता : साझी विरासत, संवेदना एवं सरोकार *डॉ. आनन्द शुक्ल*	14
3.	दलित आत्मकथाओं में जीवन संघर्ष *डॉ. कमलेश सिंह नेगी*	22
4.	यशपाल की कहानियों में वर्ग–संघर्ष की चेतना *डॉ. भारती*	33
5.	मौलाना आजाद : पत्रकार के रूप में *डॉ. शत्रुघ्न पाण्डेय*	37
6.	भवाई : गुजराती परंपरागत लोकनाट्य *डॉ. हरीश मेहता*	47
7.	तकनीकी और मानव–मन *धीरेन्द्र प्रताप सिंह*	57
8.	मैलोरी, हिलेरी और तेनजिंग की याद में *प्रोफेसर शेखर पाठक*	62
9.	बहरूपी गाँधी : भित्तिचित्रों का अध्ययन *विनय पटेल*	71
10.	अंग जनपद की लोक–गाथा बिहुला विषहरी एवं मंजूषा चित्रकला *शिव शंकर सिंह पारिजात*	78

ISSN 2349-4905

11. अलौकिक विवाह गाथा में शिव–लाहौल के संदर्भ में — 84
डॉ. श्रवण कुमार

12. आवश्यकता एवं अभिलाषा से हिन्दी का जुड़ाव — 90
डॉ० शिबन कृष्ण रैणा

13. भूमण्डलीकरण और हिन्दी — 92
डॉ. सुनीता देवी

पुस्तक समीक्षा

14. रोजमर्रा की जिंदगी, प्रौद्योगिकी और औपनिवेशिक भारत का इतिहास — 95
डॉ. शुभनीत कौशिक

15. औरंगजेब : द मैन एण्ड द मिथ — 100
डॉ. मनीषा चौधरी

16. द मुस्लिम क्वेश्चन : अंडरस्टैण्डिंग इस्लाम एण्ड इण्डियन हिस्ट्री — 103
डॉ. शम्स तबरेज़

17. खंडित आख्यानः भारतीय जनतंत्र में अदृश्य लोग — 106
डॉ. अजय कुमार

विविध

18. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के उद्यान — 110
भुवनेश्वर कुमार

19. आज़ादी और राजनीति — 112
डॉ. मीनू अग्रवाल

20. संस्थान की अकादमिक गतिविधियों एवं राजभाषा के प्रचार–प्रसार की रिपोर्ट — 113
राजेश कुमार

इस अंक के लेखकों के पते — 123

 ISSN 2349-4905

संपादकीय (1)

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान की पत्रिका 'हिमांजलि' का यह अंक प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। यह हर्ष हमारी सामूहकि उपलब्धि है जिसमें संस्थान से जुड़ा प्रत्येक व्यक्ति शामिल है। यह संस्थान देश के उन चुनिंदा संस्थानों में शामिल है जहाँ भारत और दुनिया में उपस्थित हर विचार पर शोध किया जाता है और फिर उसे उसी दुनिया से साझा किया जाता है जिसमें वह विचार सिरजा गया होता है। ज्ञान को एक सामाजिक उत्पाद मानते हुए संस्थान इसे समाज को ही वापस कर देता है।

हम सभी एक ऐसे दौर में रह रहे हैं जिसमें हमें हरियाली चाहिए, स्वच्छ नदी हो, झरने हों और इसके साथ ही साथ हम अपने उपभोग की आदत को बदलना भी नहीं चाह रहे हैं। ऐसे में इच्छा और वास्तविकता के बीच एक लंबा अंतराल है। अभी वर्ष 2018 की गर्मियों में शिमला के आसपास के जंगलों में आग लगी थी, वह तभी बुझ सकी जब प्राकृतिक वर्षा हुई। तो कहने का आशय यही है कि हम एक छोटे से क्षेत्र के जंगल की आग को बुझा नहीं सकते हैं और वह सब कुछ करते हैं जिससे जंगल खत्म हो जाते हैं, नदियाँ प्रदूषित हो जाती हैं, और झरने लापता। इस पर निर्भर एक पूरी संस्कृति और समुदाय खत्म हो जाते हैं। हिमांजलि का यह अंक इन्हीं चिंताओं को संबोधित करने का प्रयास है।

इसी के साथ एक बात और भी कहनी है। इधर हाल के वर्षों में पढ़ने और सोचने के बजाय लिखने पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है, जहाँ ज्ञान सृजन का हर प्रयास अकादमिक प्रमोशन के लिए किया जा रहा है। अब हालात यह हैं कि लोग किसी लेख की मौलिकता, उसमें उठाए गए प्रश्न से ज्यादा इस बारे में चिंतित दिखते हैं कि उस पत्रिका को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मान्यता दे रहा है कि नहीं। इस प्रकार ज्ञान को मान्यता देने का काम राज्य ने अपने हाथ में ले लिया है जबकि ज्ञान को मान्यता देने और उसे जीवन में उतारने का काम समाज का होना चाहिए था। वाल्मीकि, तिरूवल्लुर, कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास और पलटूदास ने अपने ज्ञान को समाज के साथ साझा किया। आज यह सभी संत और ज्ञानी समाज की सामूहिक स्मृति में कायम हैं।

यह तभी सम्भव है जब ज्ञान का सामाजिक मूल्य हो। एक पत्रिका के रूप में 'हिमांजलि' ऐसा ही सोचती है। इस पत्रिका में विद्वान प्रोफेसरों के लेख हैं तो उन लोगों के लेख हैं जो शीत–घाम–बारिश सहकर फूल खिलाते हैं। पहली नजर में एवरेस्ट पर शेखर पाठक के लेख और भुवनेश्वर कुमार के लेख में कोई संगति नजर नहीं आएगी। शेखर पाठक एक बड़े इतिहासकार हैं जबकि भुवनेश्वर कुमार भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में माली का काम करते हैं लेकिन दोनों इस पृथ्वी को सुंदर बनाने की कोशिश में लगे हैं। इसी सुंदरता को बनाए रखने के लिए साहित्यकार, समाजविज्ञानी और भौतिक शास्त्री

ISSN 2349-4905

अपनी ओर से कोशिश करते हैं।

पत्रिका को इस रूप में प्रस्तुत करने के लिए संस्थान की शासी निकाय के अध्यक्ष प्रोफेसर कपिल कपूर, संस्थान के निदेशक प्रोफेसर मकरंद आर. परांजपे, संस्थान के सचिव तथा राजभाषा प्रकोष्ठ के श्री राजेश कुमार के हम आभारी हैं। हिमांजलि के अगले अंक में हम महात्मा गाँधी पर विशेष सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। इसी आशा के साथ...,

–रमाशंकर सिंह

ISSN 2349-4905

संपादकीय (2)

'हिमांजलि' अंकित करती है हिमालय के आँचल में झलकने वाले सभी विचारों, विषयों और सांस्कृतिक गतिविधियों को। यह पत्रिका भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के सामाजिक समावेश और हिन्दी भाषा के प्रति चेतना का प्रतिबिम्ब है। इस अंक में सम्मिलित सभी लेख अद्वितीय और अविस्मरणीय हैं। पत्रिका में लेखकों के शोधपत्र, काव्य लेखन, हिन्दी उर्दू कविता की विरासत, दलित साहित्य, कहानियों में वर्ग–संघर्ष, राष्ट्रीय नेताओं के जीवन (मौलाना आज़ाद, गाँधी), परंपरागत लोकनाट्य शैली, तकनीक, हिमालय की श्रृंखलाओं में पर्वतारोहियों के संघर्ष, लोक–गाथा, लाहौल की अलौकिक शिव गाथा, हिन्दी भाषा का भूमण्डलीकरण से तालमेल आदि बखूबी चित्रित हुए हैं। चार पुस्तकों की समीक्षाएं इस पत्रिका के शोधतंत्र को और मज़बूती प्रदान करती हैं। ये लेख और पुस्तक समीक्षाएं इस पत्रिका को शोधार्थियों तथा रूचिकर पाठकों के लिए उपयोगी बनाते हैं।

राजभाषा कार्यान्वयन समिति, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला हिन्दी भाषा को सशक्त बनाने के लिए सतत प्रयास कर रही है। उन सभी प्रयासों में इस पत्रिका में सम्मिलित रचनाओं का संग्रह और उनका टंकण करना वाकई परिश्रमयुक्त कार्य है। पत्रिका के संयोजक श्री राजेश कुमार के प्रयासों के बिना इस पत्रिका की कल्पना करना मुश्किल था। संपर्क साधने और लेखकों से रचनाएं आमंत्रित करने आदि का सारा श्रेय उन्हीं को जाता है।

संस्थान के निदेशक प्रोफेसर मकरंद आर. परांजपे और अध्यक्ष प्रोफेसर कपिल कपूर के सहयोग के बिना यह पत्रिका इस स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकती थी। मैं उन दोनों विद्वानों का हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। मेरे सह–संपादक डॉ. रमाशंकर सिंह का मैं उनके अमूल्य सहयोग और सुझावों के लिए धन्यवाद देती हूँ।

भविष्य के लिए मैं आशा करती हूँ कि गंभीर शोधपत्र और उच्च कोटि की रचनाएं इस पत्रिका में जगह पाएंगे और समाज व राष्ट्र का मार्गदर्शन करेंगे।

मनीषा चौधरी

ISSN 2349-4905

कवि अरुण कमल : यथार्थ और करुणा

डॉ. अखिलेश कुमार शंखधर

समकालीन हिंदी के साहित्यिक परिदृश्य में अरुण कमल कवि एवं आलोचक के रूप में ख्यात हैं। अपनी केवल धार (1980 ई.), सबूत (1989 ई.), नये इलाके में (1996 ई.), पुतली में संसार (2004 ई.) तथा मैं वो शंख महाशंख (2012 ई.) काव्य–कृतियाँ जहाँ उन्हें कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं वहीं दूसरी ओर कविता और समय (1999 ई.) तथा गोलमेज (2009 ई.) सदृश पुस्तकें उनके आलोचक व्यक्तित्व को उजागर करती हैं। काव्य और आलोचनात्मक लेखन के अतिरिक्त अरुण कमल ने विपुल परिमाण में अनुवाद कार्य भी किया है। अंग्रेजी में वायसेज (1987 ई.) नाम से समकालीन भारतीय कविता के अनुवादों की किताब, वियतनामी कवि तो हूँ की कविताओं तथा टिप्पणियों की एक अनुवाद–पुस्तिका और मायकोव्स्की की आत्मकथा का अनुवाद उनके द्वारा अनूदित प्रमुख कृतियाँ हैं। वे युवा कवियों को दिये जाने वाले भारतभूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार पाने वाले न सिर्फ पहले कवि हैं बल्कि अनंतर सन् 1980 में उनकी पुरस्कृत कविता उर्वर प्रदेश को ही यह गौरव प्राप्त है कि भारत भूषण अग्रवाल सम्मान से पुरस्कृत कवियों का जो संचयन प्रकाश में आया उसका शीर्षक ही रखा गया उर्वर प्रदेश। इसके अलावा उन्हें सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार (1989 ई), श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार (1990 ई.), शमशेर सम्मान (1997 ई.) तथा नये इलाके में कविता–पुस्तक के लिए वर्ष 1998 का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

अपनी केवल धार अरुण कमल का पहला कविता–संग्रह है। कविता की वापसी के वर्ष में छपे इस संग्रह की अनेक कविताएँ अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण, परंपराप्रियता, राजनीतिक चेतना तथा संवेदनशीलता के कारण उल्लेखनीय हैं। 'धार' इसी संग्रह में संकलित अंतिम कविता है जिसकी पंक्तियाँ अभी भी काव्य प्रेमियों की जबान पर चढ़ी हुई हैं–

कौन बचा है जिसके आगे
इन हाथों को नहीं पसारा
....
अपना क्या है इस जीवन में
सब तो लिया उधार

सारा लोहा उन लोगों का
अपनी केवल धार।[1]

अरुण कमल ने अपनी इन पंक्तियों में अत्यंत विनम्र भाव से सभी से कुछ न कुछ ग्रहण करने के लिए अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। यहाँ लब्धप्रतिष्ठत आलोचक परमानंद श्रीवास्तव के इस कथन से पूर्ण सहमति जताई जा सकती है कि "प्रगतिशील यथार्थवादी कवियों की नयी पीढ़ी के अग्रणी कवि अरुण कमल की काव्यक्षमता जीवन यथार्थ के नये विवेक में भी निहित है और परंपरा से गहरी संपृक्ति में भी। वे परंपरा को ढोने वाले कवियों में नहीं हैं, उसे नये अर्थ में आविष्कृत करने वाले, उसका नया सर्जनात्मक उपयोग करने वाले

 ISSN 2349-4905

कवियों में हैं।"[2] निश्चय ही अरुण कमल का वैशिष्ट्य इस बात में निहित है कि वे परंपरा को महत्व देते हुए भी उसका पुनरावलोकन करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अरुण कमल आज के यथार्थ से बखूबी परिचित हैं। इसीलिए टूटने का दर्द भी उनकी कविताओं में लक्षित किया जा सकता है। 'यात्रा' कविता के निहाल सिंह की याद आती है जो उस पंजाब का रहने वाला है जो दूध और मट्ठे से तर है, फिर भी वह मजदूरी करने बंगाल आ रहा है। कवि उससे प्रश्न पूछता है कि निहाल सिंह 'तुम क्यों जाते हो पश्चिम बंगाल? फिर कवि ही स्वयं उत्तर देता है–

"कौन नहीं चाहता जहाँ जिस जमीन उगे
मिट्टी बन जाय वहीं,
फिर दोमट नहीं, तपता हुआ रेत ही है घर
तरबूज का,
जहाँ निभे जिंदगी वही घर वही गाँव"[3]

अरुण कमल गहरी करुणा एवं प्रेम के कवि हैं। उनकी निगाह में अगर होटल में काम करने वाला लड़का है तो दूसरी ओर दरजिन भी है जो सब कुछ सिलना जानती है लेकिन आज के फैशन ने उसे परिदृश्य से बाहर कर दिया है। वे औरतें भी हैं जिन्हें जीवन में कभी भी दो जून का भोजन ठीक से नहीं मिला लेकिन वे छप्पन व्यंजन का गीत गाती हैं। होटल कविता की पंक्तियाँ हैं–

जैसे ही कौर उठाया
हाथ रुक गया।
सामने किवाड़ से लगकर
रो रहा था वह लड़का
जिसने मेरे सामने
रक्खी थी थाली।[4]

इन पंक्तियों के साथ ही 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही' कविता की मार्मिकता भी तुलनीय है–

जिन्हें कभी जीवन में मिला नहीं
सुख से भोजन दो जून
वे औरतें गाती हैं छप्पन व्यंजनों के गीत।[5]

'सबूत' अरुण कमल का दूसरा कविता–संग्रह है जिसे उनके पहले संग्रह का ही परिपक्व विकास माना जा सकता है। यहाँ भी कवि अपने समय और समाज का गहन पर्यवेक्षण करते हुए मानवीय जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं पर प्रकाश डालता है। 'उत्सव' कविता की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

देखो हत्यारों को मिलता राजपाट सम्मान
जिनके मुँह में कौर मांस का उनको मगही पान
प्राइवेट बंदूकों में अब है सरकारी गोली
गली–गली फगुआ गाती है हत्यारों की टोली
देखो घेरा बाँध खड़े हैं जमींदार के गुण्डे
उनके कंधे हाथ धरे नेता बनिया मुँछमुण्डे।[6]

सबूत संग्रह की कविताएँ इस बात का साक्ष्य उपस्थिति करती हैं कि अरुण कमल की दृष्टि से साधारण आदमी, संघर्षरत मजदूर, बेरोजगार नवयुवक बेटे का जलाकर आया हुआ बूढ़ा व्यक्ति कोई भी ओझल नहीं हुआ है। दुख एवं गहरी करुणा से उपजी अनेक कविताएं इस संग्रह में देखी जा सकती हैं। स्थिति कविता की पंक्तियाँ पाठक को गहरी करुणा से भर देती हैं–

जो जवान बेटे को फूँक कर आया है
उसे अकेला छोड़ना ठीक नहीं रात में।[7]

ISSN 2349-4905

कहना न होगा कि सबूत संग्रह की अनेक कविताओं को पढ़ते हुए पाठक गहरी करुणा एवं अवसाद से भर उठता है। फिर भी, अरुण कमल उस दुखी आदमी को पहचानते हैं जिसे और कोई नहीं पहचानता है–

जो आदमी दुख में है
वह बहुत बोलता है
बिना बात के बोलता है
वह कभी चुप स्थिर बैठ नहीं सकता
जरा–सी हवा लगते फेंकता लपट
बकता है लगातार
ईंट के भट्ठे– सा धधकता।[8]

अरुण कमल की संवेदना उन मजदूरों से जुड़ती है जिनका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उनकी पंक्तियाँ हैं–

उन मजदूरों का कहीं कोई जिक्र नहीं आज
जो दुनिया के सबसे बड़े पुल को बनाते हुए
गंगा का ग्रास बने।[9]

'नये इलाके में' अरुण कमल का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कविता–संग्रह है, जिसमें उनकी सन् 1990 से 1995 के बीच की रची कविताएँ संकलित है। बीसवीं सदी का अंतिम दशक कई दृष्टियों से उल्लेखनीय रहा है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद की आँधी इसी दौर में सबसे तेज चली। पूँजीवाद ने अपने पैर और तेजी से पसारे। आम आदमी के सामने स्थितियाँ और विकट हुईं। यही वह समय था जब हमारे समक्ष पहचान का संकट उत्पन्न हुआ। अरुण कमल ने अपने समय की इन्हीं स्थितियों की परख करते हुए आज के इसी 'आइडेंटिटी क्राइसिस' को अपने इस संग्रह में उजागर किया है। शीर्षक कविता की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

इन नये बसते इलाकों में
जहाँ रोज बन रहे हैं नये नये मकान
मैं अक्सर रास्ता भूल जाता हूँ
....
यहाँ रोज कुछ बन रहा है
रोज कुछ घट रहा है
यहाँ स्मृति का भरोसा नहीं
एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया
जैसे वसंत का गया पतझड़ को लौटा हूँ
जैसे बैशाख का गया भादों को लौटा हूँ।[10]

हम एक अजीब स्मृतिहीनता के दौर से गुजर रहे हैं। अरुण कमल सरीखे कवि ने अपने समय की इस विडंबना की गहरी पड़ताल की है जिसका साक्ष्य उनका यह संग्रह उपस्थित करता है। अरुण कमल की इसी विशेषता को लक्षित करते हुए परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं "जब कविता में किसी समय नयी मानकर आजमायी गई हिकमतें बासी लगने लगी हैं, नवोन्मेष सरीखी कविता बनावट में परिपाटी लगने लगी हो, कठिन समय भी कवियों का और कविता का मुहावरा होकर रह गया हो, जीवन और अनुभव के नये नये रूपों का अनुसंधान रुद्ध हो गया हो, अरुण कमल– जैसा कवि ही एक बार फिर कविता में जीवन की नयी आँच, नयी उपमा, नयी गतिविधि, नयी ताजगी के साथ, नये नैतिक बोध के साथ जीवन–मृत्यु, प्रकृति–प्रेम–राग–विराग–हिंसा–बाजार के अछूते प्रसंगों को उद्घाटित करते हुए संभव कर सकता है। उनकी यह विशेषता पाठक को उत्सुक बनाती है।'[11]

'नये इलाके में' संग्रह की एक अत्यंत मार्मिक कविता है 'श्राद्ध का अन्न'। अपनी इस कविता में अरुण कमल ने निम्न मध्य वर्ग की संवेदनहीनता तथा भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक कर्मकाण्डीय

ISSN 2349-4905

व्यवस्था को अत्यंत कारुणिक ढंग से चित्रित किया है। ग्रामीण श्राद्ध का अन्न खाकर जोर–जोर बाते करते हुए ठहाके लगाते हुए और साथ ही श्राद्ध के व्यंजनों पर चर्चा करते हुए वापस लौट रहे हैं। मृतक से किसी की कोई संवेदना नहीं है। यह किस संवेदनहीन समय में जी रहे हैं हम! लेकिन कवि के लिए श्राद्ध का अन्न निगलना अत्यंत कठिन है। कविता की पंक्तियाँ हैं–

कठिन है निगलना श्राद्ध का अन्न
पाँत में बैठना
फिर परोसन का इंतजार
फिर कौर उठाना सामने मृतक के पिता के
कठिन है कंठ के नीचे उतारना
सामने खड़ा है मृतक हँसता
पूछता, कैसी है बुँदिया कैसा रायता?[12]

इस कविता के संबंध में अजय तिवारी का कथन ध्यातव्य है "सामाजिक क्रूरता के वर्तमान संस्कार और मृत्यु को भी भोज बना देने वाला प्रथानुगामी विश्वास गाँव में भी संबंधों–भावनाओं को नष्ट कर रहे हैं। कविता दो खंडों में है। पहले खंड में ग्रामीणों का चित्रण है, दूसरे में पाँत का। यहाँ संवेदना पूर्ण स्थिति का चित्र है। श्राद्ध का अन्न खाते समय मृतक की स्मृति सजीव हो जाती है और मन पर आघात लगता है। सहानुभूति भाव की तदाकारिता लाती है। श्राद्ध के अन्न को लेकर अरुण बहुत गहरी विडंबना सूचित करते हैं। पहली स्थिति में मृतक 'अन्न' का बहाना है, दूसरी स्थिति में अन्न से मृतक की स्मृति जगती है। लेकिन अरुण गाँव के जीवन में व्याप्त अवसरहीनता, साधनहीनता से परिचित हैं। कहना चाहिए कि एक तरफ रूढ़ियाँ प्रथाएँ, दूसरी तरफ साधनहीनता, दोनों मिलकर मनुष्य को विकृत, संवेदनहीन बना रहे हैं। यह विमानवीकरण शासक वर्ग की हिंसा से बिल्कुल अलग किस्म का है।"[13]

'पुतली में संसार' अरुण कमल का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कविता–संग्रह है। शीर्षक कविता महाभारत के उस प्रसंग को केंद्र में रखते हुए रची गई है जहाँ धनुर्धर अर्जुन को निशाना लगाते समय सिर्फ मछली की आँख की पुतली दिखती है। लेकिन यहाँ कविता में कवि है जिसे पुतली में संपूर्ण संसार दिखाई देता है। पूरी सृष्टि की समाई इसमें है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह कि अरुण कमल सदृश कवियों की शक्ति ही यही है कि यहाँ कुछ भी वर्जित या त्याज्य नहीं है, यहाँ सभी का प्रवेश है। साधारण से साधारणतर और हेय से हेयतर सभी को यहाँ देखा जा सकता है। संग्रह के फ्लैप पर ठीक ही लिखा गया है। गहरे दुख एवं विषाद से भरी ये कविताएँ आज के संपूर्ण भारतीय जीवन के दुख एवं विषाद को वाणी देती हैं। यह आपबीती है और जगबीती भी। ऐसी गहरी करुणा, प्रेम और ऐंद्रिकता समकालीन कविता में अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तव में यह संपूर्ण कविता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के हर मुहुर्त में उपस्थित एवं शरीक।"[14] संग्रह की एक कविता 'आत्मकथ्य' की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

तभी याद आता है आज तो उसका आपरेशन है
जिसके एक बूढ़ी माँ के सिवा और कोई नहीं,
कोई कहता है काम छूट गया कोई कहता है पत्नी बीमार है
किसी की बेटी का ब्याह किसी को कुछ
और सुबह सुबह कोई दरवाजा खटखटाता है
मकान मालिक ने कमरे में ताला मार दिया।[15]

'मैं वो शंख महाशंख' अरुण कमल का पाँचवा और अभी तक प्रकाशित संकलनों में अंतिम है। अकारण नहीं है कि अभी तक के अपने इस अंतिम प्रकाशित संकलन में अरुण कमल 'अंतिम जन' को भूले नहीं हैं बल्कि कहा जा सकता है कि संग्रह

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

 ISSN 2349-4905

की कविताएँ हाशिए पर पड़े हुए अंतिम जन के ही दुख–दर्द, आशा–निराशा, पीड़ा–कसक को स्वर देती हुई कविताएं हैं। 'जनगणना' शीर्षक कविता जोरदार ढ़ंग से इस कथन की पुष्टि करती है। कविता की पंक्तियाँ देखने योग्य हैं–

मैं वो हूँ जिसकी गिनती होने से रह गई
पूरी आबादी में जो एक कम होगा वो मैं हूँ
जिसके वास्ते किसी अदहन में डाला नहीं जाएगा चावल
जिसके नाम की रोटी नहीं पकेगी वो मैं हूँ।
जब भी उनकी गिनती गलत होगी
जब भी वे हिसाब मिला नहीं पाएँगे
मैं हँसूँगा आँकड़ों के पीछे से तालियाँ देता
वो मैं हूँ मैं वो अंक वो शंख महाशंक।[16]

इस कविता के निहितार्थ गहरे हैं। वस्तुतः यह कविता पक्षधरता की कविता है। मुक्तिबोध के शब्दों में 'तय करो किस ओर हो तुम' की कविता है। स्पष्ट है कि अरुण कमल की प्रतिबद्धता और पक्षधरता गणना से छूटे हुए, हाशिए पर पड़े हुए गरीब और असहाय लोगों की तरफ है। अरुण कमल की काव्य–संवेदना के तार इन्हीं लोगों से जुड़ते हैं और सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही उनकी कविता के सौंदर्य को निर्मित करता है। कवि मान बहादुर सिंह की नृशंस हत्या पर लिखी गई कविता 'थूक' में अरुण कमल ने हमारे आज के समाज में व्याप्त जड़ निस्संगता एवं उदासीनता पर सफलतापूर्वक प्रकाश डाला है–

जब वह गुंडा प्राचार्य मान बहादुर सिंह को
उनके कक्ष से खींचे घसीटे जा रहा था
तब हजारों विद्यार्थी जमा थे चारों तरफ
और वह गुंडा अकेला था और मान बहादुर अकेले
....
अगर सब लोग केवल थूक देते एक साथ
तो गुंडा वहीं डूब जाता।[17]

हमारे अपने समय की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि चारों तरफ अजीब सी चुप्पी, उदासीनता और जड़ता व्याप्त है। अरुण कमल ने न केवल भारत के संदर्भ में वरन् वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी आज के समय की विडंबना की गहरी पड़ताल की है। तभी तो वियतनाम पर केंद्रित 'युद्ध और शांति' कविता में वे लिखते हैं–

युद्ध विराम के तीस साल बाद भी
खेलते बच्चों के हाथों फूटते हैं
छूटे हुए बम और गोले
कभी भी कोई युद्ध खत्म नहीं होता
जब तक हथियार हैं
जब तक उनके विचार हैं।[18]

अरुण कमल के इसी काव्य–वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए प्रतिष्ठित कवि–संपादक लीलाधर मंडलोई लिखते हैं– "घोर राजनीतिक पतन के दौर में राजनीतिक चेतना उनकी अक्षय काव्य पूंजी है। तत्कालिक चलन और आयातित संदर्भों से परे दूरगामी संवेदना को चिन्हित, अपने लोक से रास्ता बनाती अरुण की कविता मानवीय रिश्तों, प्रकृति और सृष्टि को बचाने का पर्याय है। यही वजह है कि हमारी दुनिया के जितने करुण और प्रसन्न दृश्य अरुण की कविता में हैं उतने उनकी पीढ़ी में अन्यत्र कम मिलते हैं।[19] मंडलोई के कथन से सहमति जताते हुए यह कहा जा सकता है कि अरुण कमल के काव्य में जीवन और जगत् की बहुआयामी छवियाँ

ISSN 2349-4905

अंकित हैं। करुणा और प्रेम का जो संसार अरुण कमल रचते हैं वह उनके समकालीनों में दुर्लभ है।

संदर्भ

1. अरुण कमल (2006), *अपनी केवल धार*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 88
2. परमानंद श्रीवास्तव (1988), *समकालीन कविता का यथार्थ*, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृ. 220
3. *अपनी केवल धार*, पृ. 13
4. वही, पृ. 16
5. *अपनी केवल धार*, पृ. 31
6. अरुण कमल (2004), *सबूत*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 62
7. वही, पृ. 55
8. सबूत, पृ. 53
9. वही, पृ. 44
10. अरुण कमल (2006), *नये इलाके में*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 13–14
11. परमानंद श्रीवास्तव (2008), *कविता का अर्थात*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 29
12. *नये इलाके में*, पृ. 51–52
13. अजय तिवारी (2014), *हिंदी कविता आधी शताब्दी*, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 98
14. अरुण कमल (2006), *पुतली में संसार*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, फ्लैप से
15. *पुतली में संसार*, पृ. 57
16. अरुण कमल (2012), *मैं वो शंख महाशंख*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 11
17. *मैं वो शंख महाशंख*, पृ. 53
18. वही, पृ. 83
19. लीलाधर मंडलोई (2003), *कविता का तिर्यक*, मेधा बुक्स, दिल्ली, पृ. 73

ISSN 2349-4905

शोध आलेख

हिन्दी–उर्दू कविता : साझी विरासत, संवेदना एवं सरोकार

डॉ. आनन्द शुक्ल

हिन्दुस्तान के विशाल हिस्से में शताब्दियों से भाषा, साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में समन्वय की परम्परा रही है। मध्यकाल में अनेक बोलियों और भाषाओं के समाहार से विकसित हुई हिन्दुई या हिन्दवी के साहित्य में भाषाओं, संस्कृतियों और परम्पराओं के मिश्रण का अद्‌भुत निर्वाह मिलता है। यह परम्परा आगे चलकर तब बाधित हुई जब औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश शासन द्वारा धार्मिक आधार पर आरम्भ की गई सामुदायिक एवं भाषाई विभाजन की प्रक्रिया तथा इसके परिणामस्वरूप स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उभरी साम्प्रदायिक राजनीति ने हिन्दी–उर्दू के मध्य दीवार खड़ी करने का काम किया। हालाँकि, इस दौर में भी भाषा, लिपि एवं सामुदायिक सम्बंधों को लेकर चले वाद–विवाद के बावजूद साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर दोनों भाषाओं के रचनाकारों के बीच निरंतर संवाद की प्रक्रिया चलती रही है। आज़ादी के संघर्ष और बाद में भी हिन्दी उर्दू के साझा अस्तित्व, अंतरंगता और सहयात्रा को दोनों ही भाषाओं के रचनाकारों ने खुले मन से स्वीकारा, सराहा तथा अपनाया है।

दरअसल, देश के विभिन्न क्षेत्रों में बारहवीं से अठारहवीं शताब्दी के मध्य फली–फूली और हिंदवी, हिंदुई, देहलवी, दकनी, रेख्ता, हिन्दी और उर्दू आदि विविध नामों से पहचानी जाने वाली इस परंपरा का हिन्दुस्तान की सामासिक संस्कृति के निर्माण व विकास में विशेष योगदान रहा है। अमीर खुसरो ने 'नोह सिपहर' में हिन्दुस्तान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं को 'हिंदवी' कहते हुए लिखा है कि 'गुफ्त हिन्द' अपने 'अलफ़ाज खुशगवार' के कारण 'पारसी व तुर्की' पर 'राजेह' (श्रेष्ठ) है।'[1] खुसरो का हिंदवी से अभिप्राय हिंद की जनता से था और यह हिंदवी की सर्वव्यापक परिभाषा थी तथा अपनी मधुर शब्दावली के कारण अत्यधिक लोकप्रिय थी। इस परंपरा को सामान्य अर्थों में भाषा न कहकर विद्वानों ने एक 'भाषायी महामिलन' के रूप में स्वीकारा है जिसमें भारत के उत्तर, मध्य, पश्चिम और दक्षिण में प्रयुक्त होने वाली अनेक भाषाएं और बोलियां समाहित थीं। हिंदवी का कोई मानक या स्थिर रूप नहीं था और उसे कई नामों– सरायकी, लश्करी, देहलवी, गूजरी, दकनी, दक्खनी, भाषा, भाखा आदि से जाना जाता था।

यही वह समय था जब हिन्दुस्तान की सरजमीं पर उभरे सूफी आंदोलन और भक्ति आंदोलन ने नितान्त सादगी, लगन और मेलजोल के द्वारा सामान्य जन के मध्य कविता की ऐसी धारा प्रवाहित की जिसका समाज और संस्कृति पर व्यापक, सकारात्मक एवं दीर्घकालिक प्रभाव पड़ा। सूफी और भक्त कवियों ने जनभाषा में कविता के माध्यम से मध्यकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को गहरे स्तर पर प्रभावित किया था। ''भक्ति को एक लोकप्रिय और

 ISSN 2349-4905

उस समय की समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आंदोलन बनाने में हिन्दू और मुसलमान दोनों भक्त–कवियों का हाथ था।''[2] निर्गुण भक्त और सूफी संतों ने सामाजिक सद्भाव तथा सामंजस्य की नई मिसाल कायम की थी। ''जिस तरह सूफी और भक्त हिन्दी क्षेत्र में एक दूसरे के निकट थे, सूफियों में भक्त थे और भक्तों में सूफी थे, उसी तरह अन्य प्रदेशों में भी वह एक दूसरे के निकट थे।''[3]

मध्यकाल में कई सदियों तक हिंदवी, हिंदुई, हिन्दी, दकनी हिन्दी की मिलीजुली परंपरा देश के अधिकांश हिस्सों में फलती–फूलती रही। इन जन भाषाओं ने न केवल भाषायी एकता का मार्ग प्रशस्त किया बल्कि सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक समन्वय का ऐतिहासिक कार्य भी किया। अठारहवीं शताब्दी से विविध राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कारणों से हिंदवी परंपरा कमजोर होने लगी और उसकी अनेक शैलियां क्रमशः विलुप्त हो गयीं। आरम्भ में गूजरी तथा दकनी की साहित्यिक महत्ता कम हुई तथा एक शताब्दी के अन्तराल से ब्रज और अवधी भी पृष्ठभूमि में चली गईं। अठारहवीं शताब्दी में गूजरी और दकनी के स्थान पर उर्दू तथा उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रज और अवधी के स्थान पर खड़ीबोली हिन्दी साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हुईं।

इस दौर की उर्दू शायरी के आरंभिक शिल्पकार वली दकनी, मिर्जा मुहम्मद रफी 'सौदा' व मीर तकी 'मीर' व मिर्ज़ा ग़ालिब थे। वली को सामासिक संस्कृति की प्रतीक उर्दू शायरी का आरम्भकर्ता माना गया है। सौदा की रचनाओं में फ़ारसी के प्रभाव के बावजूद सांस्कृतिक मेलजोल की प्रवृत्ति मिलती है। मीर ने वली दकनी की रेख़्तागोई से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपने कौशल से रेख़्ता में खड़ी बोली का प्रवाह पैदा किया था और मिलीजुली ज़बान में उत्कृष्ट शायरी को सम्भव कर दिखाया था। मीर लिखते हैं 'उसके फरोगे हुस्न से झमके है सबमें नूर / शम्मे हरम हो या कि दिया सोमनाथ का'।[4] ग़ालिब की शायरी भारतीय परंपरा में रची–बसी है।''ग़ालिब ने अपनी शायरी में जहां सरल भाषा का प्रयोग किया है वहां वह इतने लोकप्रिय हुए हैं कि उनकी पंक्तियां कहावतें बन गयी हैं और वह सभी समुदायों में समादृत हैं।''[5] इस दौर में ही नज़ीर अकबराबादी ने उर्दू शायरी की युगीन परंपरा से अलग हटकर एक नया प्रस्थान लिया था। नज़ीर जनजीवन के बीच रमे हुए कवि थे इसलिए उनका दृष्टिकोण अत्यधिक मानवीय और समाज सापेक्ष रहा है। उनकी शायरी आम जन के धर्मनिरपेक्ष स्वभाव को प्रमाणित करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुए सामाजिक–सांस्कृतिक नवजागरण का प्रभाव हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के साहित्य पर पड़ रहा था। नयी शिक्षा, नयी सामाजिक चेतना और जीवन के विविध क्षेत्रों में विकसित हुए नये विचारों के साथ साहित्य में जो नयी प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही थीं वह हिन्दी साहित्य के समान ही उर्दू साहित्य में दिखाई पड़ती हैं। अधिकांश रचनाकार मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो साहित्य कर्म के साथ–साथ सुधारवादी तहरीकों में भी भूमिका निभाते थे। अंग्रेज शासकों ने धार्मिक आधार पर मुस्लिम समाज को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास भी किया था। फिर भी धर्म इस युग के समाज अथवा साहित्य के केन्द्र में उस रूप में नहीं था जिस रूप में मध्ययुग में था, किन्तु वह एक माध्यम अवश्य था जिसने नवजागरण के विकास को बल प्रदान किया था। बावजूद इसके, हिन्दी साहित्य जहाँ रीतिकालीन परिवेश से निकलकर नये युग में नया अभिधान ग्रहण कर रहा था वहीं उर्दू साहित्य भी अपने दरबारी परिवेश से बाहर आकर नयी हवा में जीवन रस हासिल कर रहा था।

ISSN 2349-4905

इस दौर में, हिन्दी भाषा–साहित्य के केन्द्रीय व्यक्तित्व भारतेन्दु हरिश्चंद्र स्वयं को 'संस्कृत, हिन्दी और उर्दू का कवि' कहते थे। वह हिन्दी कविता को मध्यकालीनता के दायरे से निकाल कर आधुनिक भावबोध से संपृक्त करने का निरंतर प्रयास कर रहे थे। खड़ी बोली में कविता की संभावना की तलाश में उन्होंने उर्दू काव्य परम्परा का सहारा लिया और 'रसा' उपनाम से ग़ज़लें, तरजीहबन्द, सवाइयाँ आदि लिखीं। भारतेन्दु के व्यक्तित्व में युगीन प्रभावों के कारण हिन्दी–उर्दू का द्वन्द्व है परन्तु वह दोनों के समन्वय का सचेत प्रयास करते हुए कवियों का साझा मंच तैयार करते हैं और 'गुलजारे पुरबहार' नामक संकलन निकालते हैं। उन्होंने सामाजिक–राजनीतिक व्यंग्य की अभिव्यक्ति में ग़ज़लों का सार्थक उपयोग किया है 'दिल मेरा तीरे सितमगर का निशाना हो गया/आफते जां हक में मेरे दिल का लगाना हो गया' अथवा 'मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों को क्या/ऐ मीरे–फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा।'[6] आगे चलकर द्विवेदी युग में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर', मैथिली शरण गुप्त, श्रीधर पाठक एवं राय देवी प्रसाद पूर्ण आदि ने ग़ज़ल शैली की सफल अभिव्यक्तियाँ की हैं।

उर्दू कविता में इस नयी चेतना के अग्रदूत के रूप में मुहम्मद हुसैन आज़ाद का नाम लिया जाता है। विचार और ज्ञान की नयी धाराओं से परिचित आज़ाद ने 1867 ई0 में एक व्याख्यान में नये ढंग की शायरी की रूपरेखा अपने समकालीन साहित्यकारों के सम्मुख रखते हुए आग्रह किया था कि ''कविता को मानव जीवन और प्रकृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालने के दायित्व का वहन करना चाहिए, हमारे कवियों को अपनी काल कोठरी से बाहर आना चाहिए और नये वातावरण में नये मार्गों का अनुसरण करना चाहिए।''[7] आज़ाद ने समकालीन परिवेश के यथार्थ का चित्रण, परंपरा और स्थानीयता का आग्रह करते हुए उर्दू की नयी शायरी का स्वरूप प्रस्तुत किया था। इस दौर के उर्दू के आधुनिक चेतना सम्पन्न शायरों में अल्ताफ हुसैन हाली, नजीर अहमद, शिबली नोमानी तथा अकबर इलाहाबादी आदि प्रमुख हैं।

इस समय के प्रख्यात शायर हाली ने उर्दू कविता पर लिखी पुस्तक 'मुकद्दमा–ए–शेर–ओ–शायरी' में हिन्दी–उर्दू के घनिष्ठ संबंधों का उल्लेख करते हुए ''अच्छे रचनाकार के लिए दोनों भाषाओं के समुचित ज्ञान पर बल दिया था।''[8] हाली की मशहूर कृति 'मुसद्दस' का प्रभाव 'भारती भारती' पर पड़ा था, जिसे मैथिलीशरण गुप्त ने खुले मन से स्वीकार किया था। ''हाली ने कौम की दर्दनाक हालत देखी थी, लेकिन वे हताश नहीं थे। वे जानते थे कि जो पानी बहना बंद कर कहीं रूक जाता है, उसमें सड़न पैदा होने लगती है।''[9] उन्होंने मज़हबी विवादों का विरोध करते हुए आगाह किया था कि 'तुम अगर चाहते हो मुल्क की ख़ैर/न किसी हमवतन को समझो गैर/हों मुसलमान इसमें या हिन्दू/बौद्व मज़हब हो या कि हो ब्रहमू/सब को मीठी निगाह से देखो/समझो आँखों की पुतलियां सबको।'[10]

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों की हिन्दी–उर्दू कविता का मूल स्वर सुधारवादी और राष्ट्रीयता की चेतना से अनुप्राणित है। इस दौर के स्वाधीनता आंदोलन में प्रत्येक भारतीय समुदाय बढ़–चढ़ कर हिस्सा ले रहा था। शासकीय कामकाज और अदालतों में भाषा एवं लिपि के प्रश्न पर हिन्दी तथा उर्दू के मध्य पहले से चले आ रहे विवाद को धर्म और राजनीति के नाम पर गहरा करने की चेष्टाएँ भी चल रही थीं। ब्रिटिश शासन ने विभिन्न सुधारों एवं योजनाओं के नाम पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों को विभाजित करने का अभियान चला रखा था

ISSN 2349-4905

जिसमें सरकारपरस्त प्रेस भी सहयोग कर रहा था। प्रख्यात शायर अकबर इलाहाबादी ने हिन्दी–उर्दू विवाद के पक्षकारों और प्रेस पर करारा व्यंग्य करते हुए इस विवाद को एक मामूली पारिवारिक कलह से अधिक महत्व नहीं दिया था 'हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, हिंदी को वो भाषा क्यों न करें/अखबार चलाने की खातिर, मजमून तराशा क्यों न करें/ आपस में अदावत कुछ भी नहीं, पर एक अखाड़ा जारी है/जब इससे खल्क का दिल बहले, हम लोग तमाशा क्यों न करें'।[11]

इस दौर में हिन्दी की राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रमुख रचनाकार मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि अपनी कविताओं के माध्यम से सामाजिक सुधार, सामुदायिक सद्भाव और देशप्रेम की भावना को मुखरित कर रहे थे। उर्दू के नामचीन शायर मुहम्मद इकबाल, हसरत मोहानी, ब्रजनारायण 'चकबस्त' आदि भी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय सरोकारों की अभिव्यक्ति कर रहे थे। इक़बाल और हसरत मोहानी के राजनीतिक विचार भले ही स्वाधीनता आंदोलन की मुख्यधारा से जुदा रहे हों परन्तु सामाजिक सद्भाव के लिए वह मिली–जुली संस्कृति पर ही विश्वास करते थे। इक़बाल ने उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए हिन्दू आस्था के केन्द्र राम को 'इमाम–ए–हिंद' कहा था 'है राम के वजूद पर हिंदोस्तां को नाज/ अहले नज़र समझते हैं उनको इमाम–ए–हिन्द'।[12] इसी तरह हसरत मोहानी के बारे में प्रसिद्ध था कि वह प्रत्येक हज यात्रा के बाद मथुरा में कृष्ण के दर्शन के लिए अवश्य जाते थे, जिससे उनकी हज यात्रा मुकम्मल हो सके।

हिन्दी की छायावादी कविता मानवतावाद और सामाजिक समरसता का संदेश दे रही थी। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि ने अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय एकत्व की भावना को बल प्रदान किया था। निराला काव्यभाषा में लय और सरसता के आग्रह के कारण उर्दू कविता की ओर आकृष्ट हुए थे। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में किया था। निराला की 'गीत रचना' और 'मुक्त छन्द' से हिन्दी–उर्दू के अनेक कवियों ने समान रूप से प्रेरणा ली है। पंडित ब्रजमोहन कैफी, अहमद हुसैन फरहाद, नादिर कौरवी, शौकत मेरठी, अमजद हैदराबादी आदि ने हिन्दी छंदों एवं शैलियों को अपनाया। मौलाना सलीम ने उर्दू शाइरी में हिन्दुस्तानी ऐतिहासिक प्रसंगों का महत्व बताया और परामर्श दिया कि ''अरब–ओ–अजम के साथ–साथ हिन्दुस्तानी तलमीहात को भी उर्दू शाइरी में जगह देनी चाहिए'' तो मौलाना ताज़वर ने अपनी पत्रिका हुमायूँ में लिखा कि ''हमारी शाइरी हिन्दुस्तानी शायरी उसी वक्त हो सकती है कि जब भाषा में हिन्दी मिली हुई हो और यह हिन्दी वज़्मों में भी हो।''[13]

यह परंपरा छायावादोत्तर काल में और अधिक विकसित हुई जिसने हिन्दी और उर्दू की आपसी आवाजाही के अन्यतम प्रमाण दिए हैं। इस दौर के कवियों का फ़ारसी परंपरा से जुड़ाव उर्दू के माध्यम से ही हुआ। हिन्दी में उमर खैय्याम की रूबाईयों के कई अनुवाद हुए और हालावाद का उदय हुआ। हरिवंशराय बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, बलवीर सिंह रंग आदि ने मिलीजुली भाषा में स्वाधीनता की चेतना को मुखरित किया। बच्चन ने 'मधुशाला' में सामाजिक सद्भाव का संदेश सर्वथा भिन्न और प्रतीकात्मक तरीके से दिया है जो आम जन के बीच अत्यन्त लोकप्रिय रहा है 'मुसलमान और' हिन्दू हैं दो, एक, मगर, उनका प्याला/एक, मगर, उनका मदिरालय,

ISSN 2349-4905

एक मगर, उनकी हाला/दोनों रहते एक न जब तक मस्जिद मंदिर में जाते/बैर बढ़ाते मस्जिद–मंदिर, मेल कराती मधुशाला'।[14]

सन् 1936 से आरम्भ हुए प्रगतिशील आंदोलन ने हिन्दी, उर्दू के साथ ही अन्य भाषाओं के रचनाकारों, संस्कृतिकर्मियों का एक साझा मंच तैयार किया था, जिसने हिन्दुस्तान की कई भाषाओं को नजदीक लाने का काम किया। प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न हिन्दी–उर्दू कवियों में त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, मजाज, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, जां निसार अख़्तर, मुईन अहसन जज़्बी, मख़दूम मुहीउद्दीन, अहमद नदीम कासमी, साहिर लुधियानवी, नून मीम राशिद, अख़्तरुल ईमान, मज़रूह सुल्तानपुरी, अली सरदार ज़ाफरी, क़तील शिफ़ाई, सलाम मछली शहरी, अली ज़वाद ज़ैदी, गुलाम रब्बानी ताबाँ, नरेश कुमार शाद, अख्तर अंसारी, वामिक जौनपुरी, कैफी आज़मी, सज्जाद जहीर, सैयद सिब्ते हसन इत्यादि के नाम उल्लखेनीय हैं। इन रचनाकारों ने छायावादी काव्यभाषा से इतर जन भावनाओं को व्यक्त करने में समर्थ एक नयी, सरल और सशक्त भाषा का चयन किया, जो उनकी बातें जनता तक पहुँचाने में सफल हुई।

परिणामतः प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न इन कवियों की भाषा व संवेदना का एक नया रूप सामने आया जिसमें हिन्दी–उर्दू का भेद कर पाना आसान नहीं था। प्रयोगवादी दौर में शब्दों में नया अर्थ देने, भाषा को नयी अर्थवता प्रदान करने तथा अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए कवियों ने शिल्प की दृष्टि से विविध प्रयोग किए और कविता के नए रूपों का संधान किया। उर्दू में मुक्त छंद के सिद्धहस्त रचनाकारों में फैज़, मज़ाज, अली सरदार ज़ाफरी, जाँ निसार अख़्तर आदि प्रमुख हैं। अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर, मीराजी, नून मीम राशिद तथा सलाम मछली शहरी आदि कवियों ने अनेक ऐसे प्रयोग किए हैं जिनसे दोनों भाषाओं को आपस में एक दूसरे के नजदीक आने का अवसर मिला। इन रचनाकारें ने कथ्य के स्तर पर जहाँ धार्मिक कट्टरता, आर्थिक असमानता तथा सामाजिक जड़ता का विरोध किया वहीं छंद के बंधन को तोड़कर मुक्त काव्य की रचना के माध्यम से स्वाधीन चेतना की अभिव्यक्ति भी की।

इस दौर के हिन्दी कवियों ने उर्दू–फ़ारसी की परंपरा को पूरी आत्मीयता के साथ स्वीकार किया है। प्रगतिवाद के प्रतिनिधि कवि त्रिलोचन ने ग़ालिब को याद करते हुए लिखा है कि 'ग़ालिब गैर नहीं है, अपनों से अपने हैं/ग़ालिब की बोली ही आज हमारी बोली है'।[15] प्रगतिशील आंदोलन के अगुवाकार प्रेमचंद की तरह शमशेर भी उर्दू से ही हिन्दी में आए थे। अपने पहले गद्य–संग्रह का नाम 'दोआब' भी उन्होंने इसीलिए रखा। शमशेर इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि हिन्दुस्तान में सामासिक संस्कृति की कोई भी परिकल्पना हिन्दी–उर्दू के बगैर अधूरी है। वह कहते हैं कि 'मैं हिन्दी और उर्दू का दोआब हूँ, मैं वह आईना हूँ जिसमें आप हैं।' शमशेर ने भाषायी फ़िरकापरस्ती पर अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य करते हुए लिखा कि 'ईश्वर अगर मैंने अरबी में/प्रार्थना की तू मुझसे/नाराज हो जायगा? अल्लमह यदि मैंने संस्कृत में/संध्या कर ली तो तू/मुझे दोज़ख में डालेगा? लोग तो यही कहते घूम रहे हैं/तू बता ईश्वर! तू ही समझा, मेरे अल्लाह'![16]

आज़ादी के बाद बदले परिदृश्य में हिन्दी–उर्दू के तमाम रचनाकारों ने साझा विरासत और सह अस्तित्व की निरंतरता को बनाए रखने का प्रयास किया है। भारत और पाकिस्तान के रचनाकारों में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, अख़तर पयामी, अली सरदार जाफरी, कैफ़ी आज़मी, नासिर काज़मी, फहमिदा

 ISSN 2349-4905

रियाज, अहमद फ़राज़, शहरयार, साहिर लुधियानवी, मज़रूह सुल्तानपुरी, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, विजय देव, नारायण साही, धूमिल, कुंवर नारायण, दुष्यन्त कुमार, केदारनाथ सिंह आदि अनेक नाम हैं जिन्होंने हिन्दी–उर्दू की साझा साहित्यिक–सांस्कृतिक परम्परा को मजबूत करने और आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। विभाजन की त्रासदी पर अत्यन्त दुःख के साथ प्रख्यात शायर फ़ैज़ ने लिखा था कि 'ये दाग़ दाग़ उजाला, ये भाब गुजेदाह सहर/और इन्तेजार था जिसका, ये ओ सहर तो नहीं/ये ओ सहर तो नहीं जिसकी आरजू लेकर/चले थे यार के मिल जायेंगी कहीं न कहीं/नजात–ए–दिदए व दिल की घड़ी नहीं आयी/चले चलो केओ मंजिल अभी नहीं आयी।'[17]

विगत तीन दशकों में भारतीय समाज में पुनः साम्प्रदायिकता का बड़े पैमाने पर उभार हुआ है जिससे सामाजिक सद्भाव और सहअस्तित्व के लिए सकंट बढ़ा है। धर्म और राजनीति के द्वारा पैदा किए जा रहे विभाजन का सबसे घातक प्रभाव आम आदमी पर पड़ता है। प्रख्यात शायर कैफी आज़मी ने लिखा है कि 'इसको मजहब कहो, या सियासत कहो/खुदखुशी का हुनर तुम सिखा तो चले। बेलचे लाओ, खोलो जमीं की तहें/मैं कहां दफ़्न हूँ, कुछ पता तो चले'।[18] समकालीन हिन्दी कवियों में राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरूण कमल, आलोक धन्वा, अष्टभुजा शुक्ल, असद जैदी, विनोद कुमार शुक्ल, वीरेन डंगवाल, ज्ञानेन्द्रपति आदि ने सामाजिक सरोकारों और साम्प्रदायिक सद्भाव को अपनी रचनाओं में केन्द्रीयता प्रदान की है। विनोद कुमार शुक्ल की प्रसिद्ध कविता है जिसमें दंगे के दिन काव्य नायक शहर घूमना चाहता है क्योंकि 'दिखने में मैं/ना हिन्दू दिखता हूँ/ना मुसलमान दिखता हूँ/किसी मुसलमान के हाथों मरूं/तो मुझे हिन्दू ना समझना/मुसलमान समझना/अगर हिन्दू के हाथों मरूं/तो मुझे मुसलमान ना समझना/हिन्दू समझना'।[19]

समकालीन उर्दू शायरों अमीक हनफ़ी, बलराज कोमल, बशीर बद्र, कुमार पाशी, जुबैर रिज़्वी, सागर निजामी, काजी सलीम, वहीद अख्तर, अजीज कैसी, बिमल कृष्ण अश्क, शाज तमकनत, शहरयार, निदा फाज़ली, बशर नवाज, मुहम्मद अलवी, आदिल मंसूरी, शफीक फातिमा, साहिदा जैदी, राजनारायण राज, शम्सुर्रहमान फारूकी, महमूद अयाज आदि की शायरी का मूल स्वर मानवतावादी है जो धर्म, भाषा और क्षेत्र की सीमाओं से आगे बढ़कर मनुष्य मात्र की चिंता से अनुप्राणित है। प्रख्यात शायर निदा फ़ाज़ली की प्रसिद्ध नज़्म 'जंग' विशेष ध्यान आकर्षित करती है 'सरहदों पर फ़तह का ऐलान हो जाने के बाद/जंग, बेघर, बेसहारा/सर्द ख़ामोशी की ऑधी में बिखर के/ज़र्रा–ज़र्रा फैलती है/तेल, घी, आटा/खनकती चूड़ियों का रूप भर के/बस्ती–बस्ती डोलती है/दिन–दहाड़े/हर गली कूचे में घुसकर/बंद दरवाजों की सॉकल खोलती है/मुद्दतों तक जंग/घर–घर बोलती है/सरहदों पर फ़तह का ऐलान हो जाने के बाद।[20]

वर्तमान दौर के हिन्दी–उर्दू के नए शायरों ने सामाजिक–आर्थिक विशमता, धार्मिक अलगाववाद, अवसरवादी राजनीति व नए उभरते वैश्विक संकटों का विरोध करते हुए नई सृजनात्मकता का परिचय दिया है। कविता में दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों और हाशिए पर के समाजों के शोषण, उत्पीड़न और भयावह जीवन स्थितियों के चित्रण के साथ ही उनके जीने के मूलभूत अधिकारों, उनकी आशाओं व आकांक्षाओं की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है। इस समय कविता के क्षेत्र में कवियों–शायरों की कई

ISSN 2349-4905

पीढ़ियाँ एक साथ सक्रिय हैं। वर्तमान राजनीति की विसंगतियों को रेखांकित करते हुए नई पीढ़ी के कवि देवी प्रसाद मिश्र लिखते हैं कि 'मुझे शायद मालूम है कि एक/अच्छी कविता की संरचना में/क्या क्या होना चाहिए/जैसे भारतीय राजनीतिज्ञों जिनमें/ पूँजीवादी, समाजवादी, उदारवादी/हिंदूवादी, साम्यवादी, एकाधिकारवादी/मुस्लिमवादी वगैरह सारे शामिल हैं/को यह पता ही होगा कि/एक आदर्श राष्ट्र की संरचना के/क्या क्या घटक होते हैं/वे एक आदर्श राष्ट्र/नहीं बना पा रहे और मैं/ आदर्श कविता।'[21]

भाषा और शिल्प की दृष्टि से आज की हिन्दी–उर्दू कविता में पारस्परिक निर्भरता और नजदीकियॉ बढ़ीं हैं। कविता की विषयवस्तु व संवेदना में परिवर्तन के साथ काव्यभाषा व शिल्प ने अपना विधान बदला है। विविध काव्य आंदोलनों के प्रभावों से जन की भाषा कविता की भाषा बन गयी है। दोनों भाषाओं के रचनाकारों द्वारा कथ्य के अनुरूप काव्य रूप के चयन, छन्द विधान, प्रतीक एवं बिम्ब विधान ने काव्यभाषा को नवोन्मेष प्रदान करते हुए भावाभिव्यक्ति में सक्षम बनाया है। काव्य रूप के स्तर पर दोनों भाषाओं के काव्य में समान परम्परा रही है। कवियों ने मुक्तछंद में काव्य रचना करते हुए शब्द की अर्थवत्ता एवं काव्य लय को महत्व दिया है। उर्दू कविता में आजाद नज़्म को लगभग सभी शायरों ने अपनाया है। हिन्दी की गीत रचना के समान ही हिन्दी का दोहा छन्द उर्दू में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। इसी तरह प्रत्येक चयन व बिम्ब विधान भी सामासिक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता है।

वास्तव में आधुनिक हिन्दी–उर्दू कविता साझा विरासत, समान संवेदनाओं और एक जैसे सरोकारों से उपजी है। दोनों भाषाओं के रचनाकारों ने अपने समय में पराधीनता, उपनिवेशवाद, सामाजिक–आर्थिक असमानता, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषाई विभाजनवाद, आतंकवाद, बाजार की शक्तियों तथा प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी ताकतों से संघर्ष की जिम्मेदारी का सार्थक निर्वहन किया है। इस तथ्य के अनेक प्रमाण हैं जब कविता ने हर दौर में सामने आई चुनौतियों को स्वीकार करते हुए प्रतिरोध की क्षमता को निरंतर विकसित किया है।

संदर्भ

1. शम्सुर्रहमान फारूकी (2007), *उर्दू का आरम्भिक युग*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 52
2. एहतेशाम हुसैन (2002), *उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*, इलाहाबाद, लोकभारती, पृ. 21
3. रामविलास शर्मा (1996), *भाषा और समाज*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 305
4. जानकीप्रसाद शर्मा (2009), *उर्दू साहित्य की परम्परा*, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 59
5. रामविलास शर्मा (1996), *भाषा और समाज*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 312
6. हेमन्त शर्मा, सं0 (1989), *भारतेन्दु समग्र*, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पृ. 272, 464
7. जानकीप्रसाद शर्मा (2009), *उर्दू साहित्य की परम्परा,* वही, पृ. 159
8. जानकीप्रसाद शर्मा (2009), *उर्दू साहित्य की परम्परा*, वही, पृ. 162
9. गजेन्द्र पाठक (2011), *शमशेर की आलोचना दृष्टि*, नई दिल्ली, सामयिक प्रकाशन, पृ. 16
10. जां निसार अख़्तर, सं0 (2010), *हिन्दोस्तां हमारा*, मुम्बई, हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, पृ. 93
11. शम्सुर्रहमान फारूकी (2012), *अकबर इलाहाबादी पर एक और नज़र*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 66

ISSN 2349-4905

12. मुजफ्फर हुसैन (1985), *इकबाल और राष्ट्रीय एकता*, चण्डीगढ, हरियाणा साहित्य अकादमी, पृ. 43
13 रूखसाना शेख (2006), *आधुनिक उर्दू काव्य*, कानपुर, विनय प्रकाशन, पृ. 302
14. अजित कुमार, सं0 (2012), *बच्चन रचनावली*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 52
15. विष्णुचन्द्र शर्मा (2010) *त्रिलोचन का कविकर्म*, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 57
16. अशोक वाजपेई, सं0 (2004), *टूटी हुई बिखरी हुई*, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 92
17. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, *सुबह–ए–आज़ादी*, कविताकोश (आनलाइन)
18. कैफी आजमी (2008), *आवारा सज्दे*, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ. 86
19. विनोद कुमार शुक्ल, *तद्‌भव*, अंक 25, मार्च 2012, सं0 अखिलेश, लखनऊ, पृ. 475
20. इजलाल मजीद, मंजूर एहतेशाम, सं0 (2002), *कि आती है उर्दू ज़बां आते आते*, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 125
21. देवी प्रसाद मिश्र, *राष्ट्र निर्माण की राजनीति*, कविताकोश (आनलाइन)

 ISSN 2349-4905

दलित साहित्य की आत्म कथाओं में जीवन संघर्ष

डॉ. कमलेश सिंह नेगी

भारतीय साहित्य में आत्म कथा लेखन का इतिहास ज्यादा पुराना नहीं है। दलित साहित्य की अन्य विधाओं की तरह दलित आत्म कथाएँ भी पहले मराठी में आयीं। दलित साहित्य में आत्म कथा लेखन का आरंभ 'अस्मितादर्श' (1976) के 'दीपावली विशेषांक' से हुआ। इस विशेषांक में 'मैं और मेरा जीवन' शीर्षक से रा.यो. केशव मेश्राम, बन्धुमाधव, राजा ढाले, नामदेव ढसाल, योगिराज बाघमारे, बाबूराव बागुल आदि मराठी दलित लेखकों के संक्षिप्त आत्मकथ्य प्रकाशित हुए। इन आत्मकथ्यों की प्रेरणा से ही कालान्तर में स्वतंत्र रूप से दलित आत्म कथाएँ अस्तित्व में आयीं।[1]

दलित आत्म कथाएँ सम्पूर्ण दलित समाज की आशाओं का स्वर हैं। इसलिए दलित आत्म कथाकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने के लिए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। इस विधा को दलित साहित्य का हृदय कहा जा सकता है। यहाँ दिनेशराम के एक कथन का उल्लेख करना समीचीन होगा। वे लिखते हैं– ''कई कारणों से दलित साहित्य में आत्म कथाओं का बड़ा महत्व है। दलित साहित्य का उद्देश्य क्या है? इसका प्रत्यक्ष वर्णन इन आत्म कथाओं में मिलता है। इन आत्म कथाओं के माध्यम से यह अनुमान लगाया जाता है कि एक दलित साहित्यकार की रचनाशीलता की मनोभूमि क्या है, यही वह मनोभूमि है जो दलित साहित्य की अन्य विधाओं में अभिव्यक्त हुई है। इसलिए दलित साहित्य की ये आत्म कथाएँ दलित साहित्य की अन्य विधाओं की पृष्ठभूमि है। इसी पृष्ठभूमि से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि का दलित साहित्य में निर्माण हुआ है। दूसरे शब्दों में कहें तो दलित आत्म कथाओं की जो चिंताएँ और समस्याएँ हैं वही दलित साहित्य की अन्य विधाओं में अभिव्यक्त है।'[2]

हिन्दी में दलित आत्म कथाओं की समृद्ध परम्परा रही है। सबसे पहले भगवान दास की आत्म कथा 'मैं भंगी हूँ' सामने आयी। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–1 (1995), अपने अपने पिंजरे भाग– 2 (2000) ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1997), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999), के० नाथ की 'तिरस्कार' (1999), श्री डी. आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल (2000), सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002), माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' (2002) श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (2009), डॉ. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' (2010) एवं 'मणिकर्णिका' (2013) और सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' (2011) प्रकाशित हुई।

दलित आत्म कथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखतें हैं। साथ–साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने सौन्दर्य से भरी जीवन झलकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। ये आत्म कथाएँ इतिहास विहीन दलित समाज में सूचनाओं तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है।'[3] किशोरी लाल रैगर ने भी लिखा है– ''वस्तुतः दलित आत्मवृत्त दलित लेखकों के वो

ISSN 2349-4905

जीवनानुभव हैं, जिनको उन्होंने मजबूरन झेला है। ये आत्मवृत्त दलित समाज की हृदय विदारक पीड़ा का जीवंत दस्तावेज है और उत्तर है उन प्रश्नों का कि दलितों को दलित साहित्य लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी? दलित आत्म कथाएँ समाज का नग्न यथार्थ ही नहीं दलित साहित्य को सही रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास भी है।'[4]

प्रस्तुत शोधपत्र में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', डॉ. डी. आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल', शरण कुमार लिंबाले की आत्म कथा 'अक्करमाशी' के आत्म कथांशों को सम्मिलित किया गया है।

कमलेश्वर ने लिखा है– ''ये आत्मकथ्य किसी भी प्रदेश या भाषा की मानसिकता का नहीं, बल्कि भारतीय मानसिकता का रचनात्मक और संघर्षपूर्ण विवरण पेश करते हैं। यह जितने आत्मीय हैं उतने ही अनात्म भी क्योंकि इनमें लेखक मात्र लेखकीय दर्प या दंभ का बाना पहनकर नहीं आता वह अपने को समय के भारतीय सामान्य जन के समकक्ष रखकर उसकी ही तरह दुःख यातनाओं, अन्याय से भरी आत्मकहानी को समय की गर्दिश में देखता है।'[5]

भारतीय समाज में ऊपर से देखने पर सब ठीक–ठाक दिखाई देता है। जैसे ही अंदर जाते हैं परतें खुलती जाती हैं। इन परतों में दिखाई देता है समाज का वह क्रूर चेहरा जिसे हर कोई छिपाना चाहता है। बताने से शर्माता है। यह हिम्मत एक आत्म कथाकार विशेषकर दलित आत्म कथाकार ही कर सकता है। यही इस साहित्य की ताकत और ऊर्जा है। दलित साहित्य की आत्म कथाओं में अभिव्यक्त जीवन संघर्ष को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है –

1. जाति
2. शिक्षा
3. अस्पृश्यता
4. वर्ण–व्यवस्था
5. नारी संघर्ष
6. समाज
7. धर्म
8. गरीबी

जाति–जातिः जाति भेद के कारण सदियों से समाज के अंतिम छोर पर रखे गए दलित समुदाय को दिए गए शोषण, यातनाएँ, अवहेलना, अपमान, घृणा, तिरस्कार के घाव कमोवेश सभी दलित आत्म कथाओं में देखने को मिलते हैं। सुशीला टॉकभौरे ने लिखा है– ''सवर्ण समाज का व्यवहार जात–पाँत, भेद–भाव के आधार पर हमें लगातार प्रताड़ित करता था। इसके साथ हमारे अपने लोगों का जीवन और व्यवहार भी हमें संकुचित और प्रताड़ित बनाए रखता था।'[6]

जाति के नाम पर एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति का अथक शोषण किया है। सुशीला टॉकभौरे ने अपनी माँ के जीवन का चित्रण करते हुए लिखा है– ''वह अछूत जाति की सीमा से बंधी थी। इस सीमा को उलाँघते ही उस पर सब ओर से आक्रमण होता, उसकी इज्जत सरेआम, सरे–बाजार मटियामेट की जाती, जूता–चप्पल फेंककर या डंडे–लकड़ी से कूचकर उसे मारा जाता, इस डर से वह प्यासी रह जाती। जाति की सीमा से बँधी वह प्यास से कांवरी–बाबरी होकर काम करती रहती।'[7] आत्म कथा पूरे परिवेश के जातीय घटनाओं को दिखाती है। उनकी माँ के साथ–साथ उनकी नानी की भी

ISSN 2349-4905

यही दशा थी। यहाँ वे लिखती है कि ऐसे समय उसकी हालत उस कुत्ते की तरह लगती है जो गरमी से घबराकर, जीभ बाहर निकालकर, गहरी–गहरी सांस लेता रहता है, फिर भी वह कुत्ता लात, जूते और डंडे की परवाह किए बिना कहीं न कहीं मुंह डालकर पानी पी ही लेता है। मगर नानी ऐसी हिम्मत नहीं कर पाती थी।

जाति के नाम पर समाज में इतना विद्वेष है कि व्यक्ति नाम सुनकर ही बिदक जाता है। वे लिखती हैं– ''ट्रेन से उतरी अनजान सवारी के साथ तांगेवाले मुझे भी तांगे में बैठा लेते थे। उन सवारियों में कोई मेरी जाति को जानता तो, वह मुझे ताँगे में बैठता देख तुरन्त उतरने लगता, साथ ही गुस्से में कहता–''अरे भाई, क्या अंधेर कर रहे हो? किसको हमारे साथ बैठा रहे हो? जरा सोच समझकर, सवारी देखकर बैठाओ। नहीं तो, कहो तो हम उतर जाते हैं।'[8]

जाति के नाम पर एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति को मकान किराए से नहीं देता है। दलित जाति का कोई व्यक्ति मकान किराये पर लेने के लिए जाता है तो सवर्ण जाति के लोग नाक भौं सिकोड़ते हैं। यथा– ''मकान किराए पर लेने के लिए जाति का अपना अहम महत्व है। जाति के बिना समाज नहीं हो सकता, जाति के बिना इन्सान नहीं हो सकता, जाति की जानकारी के बिना सामाजिक व्यवहार नहीं हो सकता।'[9] जाति का कितना क्रूर चेहरा सामने आता है कि भिखारी तक को जाति के नाम से भय है। वह सोचता है कि अगर दलित जाति के लोगों से भीख ली तो सवर्ण नाराज हो जाएंगे। 'शिकंजे का दर्द' की लेखिका लिखती है– पड़ोसन भिखारी से हमारे घर की ओर इशारा करके कह रही थी– ''महाराज जी, इस घर की भिक्षा नहीं लेना। यहां जमादारन रहती है।'[10] यहाँ पर यह बात स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि जाति–व्यवस्था में व्यक्ति को उसकी प्रतिभा, योग्यता, पद के कारण नहीं जाति से पुकारा जाता है। पड़ोसन की बात सुनकर भिखारी भी उसकी बात से सहमत होकर जातिगत अहंकार के कारण लेखिका के घर से भीख माँगना उचित नहीं समझता। वाह रे, जातीय दंभ। ''किसी देश और समाज की स्थिति का मूल्यमापन कहीं आर्थिक स्थिति से होता है, कहीं राजनीतिक स्थिति से। कहीं नैतिक मूल्यों के आधार पर होता है, कहीं शिक्षा से। मगर हमारे देश में अभी तक व्यक्ति और समाज का मूल्यांकन जाति के आधार पर ही होता रहा है।'[11]

महेन्द्र कामरेड नाम के व्यक्ति ने लेखिका सुशीला टाकभौरे को बड़ी मुश्किल से इस शर्त पर मकान किराये पर दिया कि आपकी जाति के व्यक्ति, रिश्तेदार मिलने नहीं आएँगे। चूंकि मजबूरी है। मकान किराए से लेना है लिहाजा मकान मालिक, मालकिन की सभी शर्तें मानने पर मजबूर हुए। अब देखिए आगे क्या होता है। समाजशास्त्रीय भाषा में कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है लेकिन यहां तो समाज में रहते हुए भी पशुओं से भी बुरा बर्ताव हो रहा है। सुशीला टाकभौरे ने लिखा है– ''एक बार माँ और पिताजी आए थे। आते ही घर के अंदर चले गए। तीन दिन वे अंदर ही रहे, फिर चुपचाप वापिस चले गए। कितना आतंक था मोहल्ले वालों का? बेचारे हर समय डरे–सहमे रहे। न जोर से बोले, न हँसे, सिर झुकाकर आये और सिर झुकाकर चले गये। उन्हें चिंता थी– 'कहीं उनके बेटी दामाद किसी परेशानी में न पड़ जायें? यदि जाति के कारण उन्हें इस घर से निकाला गया तो वे कहां जाकर रहेंगे?'[12]

लेखिका की सासू माँ काफी वृद्ध थी बीमारी के कारण वो उनके साथ ही आकर जीवन के अंतिम

 ISSN 2349-4905

दिनों में रहने लगती है। कुछ दिन बाद उनकी मृत्यु हो जाती है। उन्होंने लिखा है – कुछ लोग घर के सामने इकट्ठे हुए। घर की मालकिन ने यह देखा तो वह एक मिनट के लिए घर के अन्दर आई, फिर बाहर आकर टाकभौरे से बोली– ''यह सब तो ठीक है मगर आप इन्हें किसी रिश्तेदार के घर ले जाओ। यहाँ से ले जाकर सब क्रिया कर्म करो। हमारे घर में यह सब नहीं होना चाहिए। आप लाश यहां से ले जाओ।'[13] मकान मालकिन की बात सुनकर टाकभौरे जी ने तुरन्त रिक्शा बुलाया। मृत सास को चादर में लपेटकर रिक्शे में रखा। मैं लाश के साथ रिक्शे में बैठी। 'मोहल्ले की कोई महिला बाहर नहीं आई, न किसी ने मुझे सांत्वना दी। यह सब देख कर मेरा हृदय क्रन्दन कर उठा। क्या यही है भारतीय समाज? भारतीय सहिष्णुता? विश्व बन्धुत्व की बात करने वाले अपने पड़ौसी से भी मानवता–भाईचारे का सम्बन्ध नहीं रख सकते?'[14]

शिक्षाः दलितों में शिक्षित होने की आन्तरिक इच्छा और अपने लक्ष्य को पाने के लिए संघर्ष उनकी आत्म कथाओं में साफ झलकता है। कौशल्या वैसंत्री लिखती हैं, ''जब मैंने कन्या पाठशाला में पाँचवी कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा थी। एक रूपये बारह आने। बच्चों की फीस देना माँ–बाप के सामर्थ्य के बाहर था। बाबा ने हैडमिस्ट्रस से बड़ी विनती की कि वे फीस नहीं दे सकते। बहुत मुश्किल से वह मान गई और कहा, पढ़ाई अच्छी न करने पर निकाल देगी। बाबा ने हैडमिस्ट्रस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया डर से, क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं कर सकते थे।'[15]

'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था की उस परत के नीचे दबे सच को दिखाया है जिससे हमारी शिक्षण व्यवस्था एवं शिक्षक ग्रस्त हैं। 'जूठन' का नायक मुंशी जी शिक्षण सस्थाओं में मार खाते हुए इसलिए पढ़ाई जारी रखता है कि 'पढ़ लिखकर जाति सुधारनी है। ''लेकिन यह जाति क्या पढ़ने लिखने से सुधर जायेगी? पढ़ लिखकर और नौकरी प्राप्त कर जीवन में पद और धन तो जरूर प्राप्त कर लेगा परन्तु समाज में मान और प्रतिष्ठा कहाँ से मिलेगी।'[16] प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा, यहां तक शोध कार्यों तक इनके साथ सवर्ण शिक्षकों का कैसा व्यवहार एवं बर्ताव होता है, इसे एक दलित छात्र ही जान सकता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है– ''अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा, वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरू की बात करता है, मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं, जो माँ–बहन की गालियां देते थे'[17]

चूहड़ा समझकर हेडमास्टर दिन भर लेखक से झाड़ू लगवाता था। इस मार्मिक व्यथा का वर्णन बतौर लेखक वर्णन करते हैं– ''दूसरे दिन स्कूल पहुंचा। जाते ही हैडमास्टर ने फिर से झाड़ू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाड़ू देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा। तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, – ''अबे ओ .... कहाँ घुस गया .... अपनी मां ....'उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर–थर काँपने लगा था। एक त्यागी (सवर्ण) लड़के ने चिल्लाकर कहा, ''मास्साब, वो बैट्ठा है कोणे में।' हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा के बाहर खींचकर मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले– 'जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू .... स्कूल के बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।'[18] मोहनदास नैमिशराय ने भी अपनी आत्म कथा ''अपने–अपने पिंजड़े' में कुछ इसी प्रकार के

ISSN 2349-4905

अनुभवों को उकेरा है। अध्यापक उन्हें बार–बार यह एहसास दिलाते कि– ''अबे तुमसे पढ़ने के लिए कौन कहता है। बस, जूते– चप्पल बनाओ और आराम से रहो। चले आते हैं सुसरे न जाने कहां–कहां से।'[19]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दलितों ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए जो लंबा संघर्ष किया है, दलित आत्म कथाओं ने उसे सच्चाई के साथ उठाया है, स्कूल में अछूत बच्चे उपेक्षा का शिकार होते थे। सवर्ण घरों के बच्चों को सजा से, छुटकारा तुरन्त मिल जाता था। गरीब, पिछड़े अछूत वर्ग के बच्चे घंटों सजा भोगते, मानो गुरूजी उन्हें सजा देकर भूल गए हों।" सुशीला, तुम आगे क्यों बैठी हो? तुम्हें सबसे पीछे बैठना चाहिए।'[20]

अस्पृश्यताः सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्म कथा 'शिकंजे का दर्द' में जीवन संघर्ष के महीन पहलुओं को उतारने का काम किया है। समाज में अस्पृश्यता चरम अवस्था पर है। कुत्ते, बिल्ली या अन्य जानवर कुएँ पर पानी पी सकते हैं पर इन्सान नहीं? क्योंकि वह दलित हैं। वे लिखती हैं– ''कुएँ की हौज का पानी गाय, बैल और भैंस पीते थे। मैं उन्हें दूर से देखती थी, मगर हम कुएँ के पास नहीं जा सकते थे।'[21]

अस्पृश्यता का जहर दलित समाज सदियों से पी रहा है और यह बीमारी आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान ही है। 'अपने–अपने पिंजरे' आत्म कथा के लेखक मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्म कथा में अपने अनुभव लिखते हैं कि बड़े भइया और वह बचपन में अपनी बहन की ससुराल जाते हैं, जहां रास्ते में प्यास लगने पर वह पानी मांगते हैं, जिस कारण उन्हें कितना अपमान सहना पड़ता है। गाँव में जान–पहचान का हो या अनजान, राम–राम कहकर सम्बोधन करना ही पड़ता था। हमने पेड़ के नीचे खाट पर बैठे दो सवर्णों से संबोधन करके पानी मांगा। उनमें से एक ने पूछा– किस गाँव जाओगे? ''निठारी गांव।' भइया ने उत्तर दिया था। ''सुजान के यहां।'' भइया ने कहा। उनमें से एक ने पूछा– ''जो चमार है?" हां भइया के मुँह से निकला था। अचानक दोनों के तेवर बदल गए थे। ''तो म्हारे घर के आगे कियों खड़े हो? जाओ सिद्दे– सिद्दे आगे चमारों के ही घर पड़ेंगे पैले।'[22] वे सांप की तरह फुफकारे थे। केवल दलित होने के कारण ही उन्होंने उन्हें पानी पीने नहीं दिया।

कितनी विडम्बना है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को छूकर अपने आप को अपमानित महसूस करता है। अछूत जिसे छूकर कुछ हानि हो जाए उसे अछूत कहना चाहिए। अछूत तो सूर्य है जिसे हम छू नहीं सकते, अग्नि है जिसे छूने से जल जाएंगे। बिजली को अछूत कह सकते हैं जिसे छूने से मर जाएंगे। इसी तरह के अन्य तत्व खोजे जा सकते हैं। दुनिया में भारत ही इकलौता देश है जहाँ आदमी को अछूत कहा जाता है। बिडम्बना देखिए आदमी के साथ उनके द्वारा पालित पशुओं को भी सवर्ण समाज अछूत मानता है। उनके पशुओं से भी छुआ–छूत करता है। सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्म कथा 'संतप्त' में लिखा है– ''उस दिन माँ को तेज बुखार था। उनसे चला फिरा नहीं जा रहा था। मैं पाठशाला से आकर खड़ा ही हुआ था कि माँ ने चारपाई से लेटे–लेटे मुझसे कहा– ''बेटा, सुजपाल, पड़िया सुबह से खूंटे से बंधी है, मोसे कुएँ से पानी नाँय खीचो गयौ....... जा पड़िया कूँ बम्बा से पानी पिला ला।'[23] बम्बा अर्थात् छोटी नहर जो गाँव से कुछ दूरी पर थी। आठ–नौ साल का बच्चा (सूरजपाल चौहान) पड़िया को लेकर पानी पिलाने चल दिया। पड़िया सुबह से प्यासी होने के कारण रस्सी छुड़ाकर बहते हुए पानी से प्यास बुझाने लगती है। थोड़ी ही दूर पर ठाकुर जयसिंह अपने बैलों को पानी पिला

 ISSN 2349-4905

रहा था। ठाकुर की नजर मेरी तरफ घूमी। पड़िया को पानी पीते देखकर ठाकुर के बदन में आग लग गई, क्योंकि जिस ओर से पानी बहकर आ रहा था पड़िया ने उसी ओर मुँह डाल दिया था। ठाकुर ने भद्दी गाली देते हुए मुझसे कहा– ''तेरी पड़िया को जूठौ पानी मेरे बद्द (बैल) पिएँगे......... ठहर में अभई आयौ।'[24]

ठाकुर हाथ में अरहर की लंबी और मजबूत संटी लेकर पास आ गया। छोटा बालक कुछ समझ पाता उससे पहले ही संटियों की बरसात हो गयी। बच्चा घबराकर घर भाग जाता है। पीछे–पीछे ठाकुर दौड़कर आता है। सूरजपाल चौहान की माँ से बोला– ''अशरफिया तेरे जा छोरा ने अपनी पड़िया को झूठों पानी मेरे बद्दों कू पिला दीनों........, ' आज तो मैंने छोड़ दियो, फिर या ने ऐसी हरकत करी तो ठौर मार दूँगौ।'[25]

अस्पृश्यता के नाम पर किस प्रकार दुत्कार मिलती है, उसे सुशीला टॉकभौरे ने अपनी आत्म कथा में लिखा है– 'माँ, नानी बहन और मैं रामलीला देखने, भजन और कव्वाली सुनने जाते थे। तीजनबाई पण्डवानी की शैली जैसी कथा शैली में रामलीला के पात्र अपने संवाद बोलते हुए अभिनय करते। भीड़ बढ़ने पर हमको बीच से उठा दिया जाता, तब हम बाद में आए हुए लोगों के पीछे जाकर बैठते। गाँव में नानी को सब पहचानते थे। हमें दूसरे लोगों के नजदीक देखकर लोग डाँटकर कहते– ''अरे ठण्ड में रात के समय छूकर नहलवाओगे क्या? आए हो तो अलग हटकर दूर बैठो।'[26]

वर्ण–व्यवस्थाः वर्ण–व्यवस्था में मनुष्य के शोषण के नये–नये तरीके खोजे जाते हैं। सवर्णों द्वारा जबरन 'बेगार' कराई जाती है। अगर बेगार करने से कोई मना करता है तो उसे दण्ड मिलता है। इस प्रथा ने दलित समाज के मान–सम्मान को कुचल दिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में लिखते हैं, जब वे दसवीं कक्षा में परीक्षा की तैयारी कर रहे थे तो दो पेपर अभी लिखने बाकी थे। तभी सवर्ण जाति के लोग उनके पास आकर बेगार करने के लिए कहते हैं। वे जब जाने के लिए तैयार नहीं होते तो वे कहते हैं कि– "रात को पढ़ लियो...... अब मेरे साथ चल, ईख बोना है। फौजी ने आदेश दिया। जबरदस्ती बाँह पकड़कर खींचते हुए खेत पर ले गया। डरा–धमकाकर काम पर लगा दिया। गालियों की बौछार से मेरा मस्तिष्क दहकने लगा।'[27]

वर्ण–व्यवस्था कितनी निरीह है। जूठन के लेखक ओमप्रकाश बाल्मीकि लिखते हैं– "एक दिन सुखदेव सिंह (सवर्ण) के घर बेटी का विवाह था। बारातियों के खा लेने के बाद माँ ने भोज के बचे जूठन उठा लिए थे। अन्त में माँ ने सुखदेव सिंह से बच्चों के लिए एक पत्तल खाना माँगा। इस पर सुखदेव सिंह ने टके–सा जवाब दिया– "टोकरा भर जूठन तो लिए जा रही हो, अलग से खाना भी माँग रही है, चूहड़ी कहीं की। निकल जा मेरे दरवाजे से।'[28]

नारी संघर्षः नारियों में भी दलित नारी की स्थिति तो और भी दयनीय है। पुरूष प्रधान समाज नारी का शोषण किस तरह करता है, आदि समस्याओं को दलित आत्म कथाओं में बखूबी स्थान दिया गया है। सुशीला टॉकभौरे अपनी आत्म कथा 'शिकंजे का दर्द' में लिखती है– "जिस माँ ने जन्म दिया, पाला–पोसा उसका नाम समाज में बेटा–बेटी के नाम के साथ नहीं जुड़ता, पिता का नाम और सरनेम जुड़ता है। विवाह के बाद बेटियों के नाम के साथ पति का नाम और सरनेम जुड़ जाता है, पिता का नाम और पहचान छूट जाते हैं। इसलिए बेटी पराई वस्तु मानी जाती है।'[29] कौशल्या बैसन्त्री 'दोहरा अभिशाप' में उन यातनाओं का खुलासा करती है जिसमें नारी से

ISSN 2349-4905

नारी का शोषण होता है। लेखिका ने एक ओर अछूत जाति के अभिशापों को दर्शाया है वहीं दूसरी ओर पुरुष प्रधान समाज द्वारा दलित नारी के शोषण को भी उजागर किया है।

शरणकुमार लिम्बाले ने अपनी आत्म कथा 'अक्करमाशी' में समाज द्वारा अमान्य सम्बन्धों से जन्मी संतानों और माँ की दशा का वर्णन किया है। सामन्तों द्वारा जन्मे अवैध बच्चों और उन स्त्रियों के जीवन को दिखाया है। रिश्तों की डोर इतनी कच्ची भी हो सकती है इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है। शरणकुमार लिम्बाले की माँ यानी मसा माँ का पति साधारण मजदूर है बिना किसी कारण के उसने मसा माँ को तलाक दे दिया और छोटे बच्चों को भी अपने पास रख लिया। कुछ दिन बाद दोबारा विवाह भी कर लिया। स्त्री वह थी परित्यक्ता तो क्या हालत होगी, इस समाज में इसे सोचा ही जा सकता है। पुरुष तरह–तरह से स्त्री को पाने के लिए षड़यंत्र करते हैं। यदि शरीर मिल जाए तो अपने ही बच्चों से परेशान हो जाते हैं। यथा– "माँ ने भी मजबूरन हणमंता का हाथ पकड़ लिया। जिस व्यक्ति को लेकर उसे बदनाम किया गया था, जिन्दगी से उठा दिया गया था, उसी के साथ रहना उसने तय किया। हणमंता ने मसाई के दांपत्य जीवन को तोड़ दिया और उसे अपने नियंत्रण में रख लिया। जैसे कोई शौक से कबूतर पालता हो। दोनों मजे से रहने लगे। मसाई गर्भवती हुई। लड़का हुआ। लड़के का बाप कौन? हणमंता को मसाई चाहिए थी। उसका शरीर चाहिए था। पर संतति? मसाई के उस लड़के के नाम के साथ अगर हणमंता का नाम लग जाता तो उसकी बदनामी होती। लड़का बड़ा होकर खेती में हिस्सा मांगे तो? मसाई कोर्ट में गई। हणमंता यह सब नहीं चाहता था।'[30]

समाजः शिकंजे के दर्द में सुशीला जी ने लिखा है– उनकी माँ को पड़ोस के सोगरा बहिन मानते थे। हम उन्हें प्यार से मामा कहते थे। लेकिन वो दूसरी जाति के होने के कारण हमारे घर खाना नहीं खाते थे। लेखिका यहाँ सोच रही है– "कैसा रिश्ता था भाई–बहन का? प्रेम बहुत था मगर हाथ का छुआ खाना नहीं खा सकते थे, हाथ का छुआ पानी नहीं पी सकते। सब अपने–अपने दायरे में सिमटे थे। कैसी दरारें थीं? जाति पंचायत के सामाजिक बन्धन, जाति भेद की सामाजिक दीवारें, जिन्हें न बहन लाँघ सकती थी, न उसका सोगरा भैया।'[31]

प्रोफेसर तुलसीराम की आत्म कथा 'मुर्दहिया' पूरे दलित समाज को अदम्य जीवन संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती है तथा यह भी बताती है कि भारतीय समाज में नारकीय या दासतापूर्ण जीवन दलितों को मिला है, उसमें व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि व्यवस्था का अपराध है। इस आत्म कथा में लेखक ने अप–शकुन से शुभ–शकुन तक के सफर को वर्णित किया गया है। 'दलित होने के नाते सामाजिक बहिष्कार और एक आँख से अंधा होने के कारण पारिवारिक बहिष्कार–उपेक्षा के शिकार लेखक, तुलसी राम दोहरी मार झेलते हैं।'[32]

अक्करमाशी शरणकुमार लिम्बाले की चर्चित आत्म कथा है– 'अक्करमाशी का अर्थ होता है– दासी या रखैल से उत्पन्न औलाद जिसे भारतीय समाज नाजायज कहता है। ऐसा बच्चा जिसे अपनी माँ का तो पता होता है, पर बाप कौन है, वह नहीं जानता। अक्करमाशी का लेखक मुख्य पात्र और कथा का भोक्ता भी है। यह शरणकुमार लिम्बाले के जीवन का कटु यथार्थ है। समाज की तथाकथित मर्यादाओं को खंडित करने वाली अक्करमाशी एक मार्मिक वेदना का अनूठा संग्रह भी है। भारतीय संस्कृति और समाज के यथार्थ को रेखांकित करने वाली रचना गाल पर थप्पड़ मारती है। लेखक सवाल करता

 ISSN 2349-4905

है–'मैं कौन हूँ? मेरी माँ महार है तो बाप लिंगायत, माँ झुग्गी–झोंपड़े में तो बाप बड़ी–हवेली में, बाप जमींदार जो माँ भूमिहीन और मैं 'अक्करमाशी'।'[33]

हिन्दू धर्म में नदी, पहाड़, पेड़, पौधे, गाय, साँप सभी को महत्व और सम्मान दिया जाता है। लेकिन अछूत मनुष्यों को कोई स्थान नहीं, कोई सम्मान नहीं। उनके लिए कोई दया–संवेदना नहीं? हिन्दू धर्म के आडम्बर में मिट्टी से बने पुतलों को भी भगवान की तरह पूजा जाता है। मगर इंसान को इंसान नहीं मानते, यह हिन्दू धर्म की विडंबना है, हिन्दू संस्कृति का कलंक है। लोग इसे ही धर्म कहते हैं।[34] डॉ. तुलसी राम की आत्म कथा का दूसरा भाग 'मणिकर्णिका' नाम से 2014 में प्रकाशित होता है। इसमें बनारस और उसके घाट व मंदिरों के चित्रण में यहां के पण्डों के पाखण्ड और उनके अवैध कारोबार का वर्णन किया है। यहाँ के पण्डे कृष्ण भक्ति का बखान करते हुए तथा भूत उतारने के बहाने महिलाओं का शोषण करते हैं।

भारतीय समाज में धर्मों को प्राचीन काल से ही अत्यधिक महत्व दिया जाता है। धार्मिक विश्वास एवं अंधविश्वासों का पालन–पोषण करने वाली एक बहुधर्मी देश की जनता के बीच धार्मिक कट्टरता का पनपना स्वाभाविक है। इसके फलस्वरूप असहिष्णुता बढ़ती है तथा सांप्रदायिक दंगे फूट पड़ते हैं। मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि मेरठ शहर भी इससे अछूता नहीं रहा। जनसंघ तथा मुस्लिम लीग का वहाँ जोर था। स्थिति के आतंक का वर्णन करते हुए वे बताते हैं– "दोनों के पास लाठी, बल्लम, चाकू, छुरे, कट्टे चलाने वालों की अच्छी–खासी भीड़ हुआ करती थी। उस भीड़ को नियंत्रित, संचालित करने वाले खूनी दस्ते, आतंकवादी गिरोह थे जो अपने–अपने धर्म का डंडा लिए एक दूसरे की बस्तियों, दुकानों, होटलों पर वार करते थे। उनके मुँह खून लग चुका था। उन्हें खून चटाने वाले संसद, विधानसभाओं में बैठते थे, पुलिस थानों, शराब के अड्डों, क्लबों में भी।'[35]

अब धार्मिक कट्टरता के तेवर बदल चुके हैं। राजनीतिज्ञों एवं तथाकथित धर्म के ठेकेदारों द्वारा अत्यन्त सावधानी पूर्वक अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए किया जाता था। इन धार्मिक, सांप्रदायिक दंगों, फसादों की कीमत चुकानी पड़ती है आम जनता को, दलित वर्ग को। निरीह, गरीब जनता जो शतरंज के मोहरे तो बनते हैं पर चालों से अनजान रहते हैं। ऐसे अवसरों पर दलितों का हाल बेहाल रहता है। कर्फ्यू लगने के कारण उनकी आमदनी बंद हो जाती है। मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है– "चमार चमार होते हैं। न हिन्दू, न मुसलमान। स्वधर्म वालों तथा परधर्म वालों से अपमानित होना ही उनकी नियति बन चुकी थी।'[36]

गरीबी: बरसात में गरीबों का जीवन कष्ट और समस्याओं से घिर जाता है। ये हाथ कमाओ, वो हाथ खाओ जैसा जीवन था। गीली लकड़ी, ठंडा चूल्हा, भूख से किल बिलाते बच्चे, उदास माँ–बाप, मानो भोग रहे हों जीवन का अभिशाप! इसका जवाब किसी के पास नहीं था।[37] जूठन में ओमप्रकाश बाल्मीकि लिखते हैं कि एक दिन कक्षा में शिक्षक द्रोणाचार्य का पाठ पढ़ा रहे थे कि द्रोणाचार्य ने भूख से तड़पते अश्वत्थामा को आटा पानी से घोलकर पिलाया था, दूध की जगह। द्रोण की गरीबी का दारूण दशा सुनकर पूरी कक्षा हाय–हाय कर उठी थी। यह प्रसंग द्रोण की गरीबी को दर्शाने के लिए महाभारतकार व्यास ने रचा था। मैंने खड़े होकर मास्टर साहब से एक सवाल पूछने की धृष्टता कर दी। अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और हमें चावल का माँड। फिर भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी भी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा? लेखक

ISSN 2349-4905

के द्वारा यह प्रश्न पूछना एक सवर्ण शिक्षक को अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ लगा। उसे लगा कि एक दलित छात्र की इतनी हिम्मत! उसने ओमप्रकाश वाल्मीकि को मुर्गा बनने का आदेश सुना दिया। शीशम की छड़ी से पीटते हुए तमतमाकर वह शिक्षक चिल्लाकर कहता है– 'चूहड़े के, तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे है........ ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूँगा........ 'उसने मेरी पीठ पर सटाक–सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था। वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है। भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामंती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर ही नहीं, मेरे मस्तिष्क के रेशे–रेशे पर अंकित है।'[38]

'झोपड़ी से राजभवन तक' के लेखक माता प्रसाद अपनी आत्म कथा लेखन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– 'मेरे जैसा निर्धन और दलित–परिवार में पैदा हुआ व्यक्ति जिसकी परिस्थिति अनुकूल नहीं थी, उसने भी कठिनाईयों को दूर करते हुए आगे की ओर कदम बढ़ाया है। इस पर मेरे मन में आया कि क्यों न अपने बारे में लिखूँ? इससे समाज के दलित, असहाय, गरीब लोगों को प्रेरणा मिलेगी और उनमें उत्साह पैदा होगा। दूसरा कारण लिखने का यह रहा कि जिन कठिनाइयों, परिस्थितियों को मैंने भोगा है, उसे हमारे लड़के, पौत्र, पौत्रियाँ या दूसरे दलित–जाति के युवकों को हमेशा याद रखना चाहिए। अपने को जातीयता की हीनग्रन्थि में बाधित नहीं रखना चाहिए।'[39] लेखक अपने इस उद्देश्य में सफल है।

इस तरह यही कहा जा सकता है कि केवल झोपड़ी से राजभवन तक के लेखक माताप्रसाद ही नहीं, अपितु सभी दलित आत्म कथाओं के लेखकों की ये आत्म कथाएँ आने वाले समय और समाज में एक प्रेरणादायक दस्तावेज एवं दलित समाज के इतिहास के रूप जानी जाएंगी। भविष्य में भी आत्म कथाओं का लेखन जारी रहेगा। इन्हीं दलित आत्म कथाओं द्वारा उभरेंगी इस समाज की विसंगतियाँ, दलितों पर किए गए अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा, संघर्षों से जूझती हुई उन नाविकों की जिन्दगियाँ। इससे बढ़कर सवर्ण समाज का उभरेगा वो असली चेहरा तथाकथित ग्रन्थों में बैठे काल्पनिक आदर्शों का भयानक स्वरूप जिसे आत्म कथाओं द्वारा ही तो आने वाली नस्ले पढ़ पाएँगी।[40] दलित आत्म कथाओं का प्रत्येक लेखक बार–बार यह प्रश्न उठाता है कि एक व्यक्ति या समाज द्वारा दूसरे व्यक्ति या समाज के प्रति तिरस्कार की भावना क्यों है? अपमानजनक शब्दों की बौछार ने कदम–कदम पर दलित समाज में हीनता बोध पैदा किया है।

प्रो. श्यामलाल जैदिया ने अपनी आत्म कथा 'एक भंगी उप कुलपति की अनकही कहानी'में सवर्णों द्वारा बार–बार अपमानित घटनाओं में अपने जीवन का संघर्ष, प्रशासनिक कुशलता को समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया है। वो लिखते हैं– "मैं मिशनरी व्यक्ति था और मुझमें अपनी मान्यताओं के प्रति साहस था। मेरे विरोधी तथाकथित सवर्ण थे। उनके पास शक्ति, धन, दिमाग था और उनकी जातियों के नेताओं का हाथ उनकी पीठ पर था। मेरे पास सच्चाई थी जो अविजित हथियार थी और कुछ समर्पित दोस्त भी। उन्हें स्वयं पर गर्व था कि वे एक ऐसे व्यक्ति के साथ हैं जो सादे जीवन व उच्च विचारों का प्रतीक है।'[41]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपनी आत्म कथा में दलितों के प्रति सवर्णों का जो व्यवहार रहा उसके विषय में लिखते हैं– "धन्य है मेरा देश भारत! किस वर्ग से बढ़कर है यह देश, जहाँ मेरी माँ – बहनों की तुलना पशुओं से की जाती है और उनसे पशु जैसा आचरण किया जाता है। सदियों से शब्दों के पत्थर

ISSN 2349-4905

फेंके जाते रहे हैं हमारी ओर। हम उनके सेवक जो ठहरे, तो आज मैं इन्हें वापस करता हूँ! स्वीकार हो हजूर! दलित लौटाना चाहता है आपको आपकी भाषा, आपका व्यवहार।'[42]

दलित आत्म कथाओं को पढ़कर ज्ञात होता है कि आत्म कथाओं के अतीत में सुखद यादें कोई नहीं है। सिर्फ घोर दरिद्रता, गन्दगी, अपमान में बिताए दिन और बचपन, जवानी सभी जाति की मार से ग्रसित हैं। गरीबी होने के साथ आर्थिक–सामाजिक शोषण उनकी जिन्दगी को और भी बदतर बना देता है। अपनी आजीविका के लिए कैसे–कैसे काम करने पड़ते थे। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने बचपन के बारे में लिखते हैं– "मैं ताऊ के साथ फुटपाथ पर बैठा बूट–पालिश किया करता था, साइकिलों के टायर सिलता था और आसपास पैंठ–बाजारों में जूते गाँठने जाया करता था।'[43]

भारत की वर्ण व्यवस्था, जाति–व्यवस्था ने दलित जाति के रूप में समाज के बहुत बड़े समुदाय को समस्त मानवीय, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक, शैक्षणिक अधिकारों से हजारों सालों तक वंचित रखने का अमानवीय कार्य किया है। इस अमानवीय व्यवस्था के प्रति दलित आत्म कथाएँ दलित समाज को सचेत करते हुए संघर्ष करने का आह्वान करती हैं। समतामूलक समाज की स्थापना के लिए दलित समाज में शिक्षा के महत्व को रेखांकित करती हैं। दलित आत्म कथाओं के माध्यम से यह जाना जा सकता है कि आजादी के बाद भी सवर्ण व्यक्ति और उसका समाज दलित व्यक्ति और दलित समाज के साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं। ग्रामीण भारत का दलित समाज तो जीवन संघर्ष कर ही रहा है, महानगरों में भी स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं है।

सन्दर्भ

1. हरिनारायण ठाकुर (2009), *दलित साहित्य का समाजशास्त्र*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 445
2. सुरेश मारूतिराव मूले (2007), *हिन्दी और मराठी दलित साहित्य एक तुलनात्मक अध्ययन*, नवभारत प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 255
3. साहित्यलोचन ब्लॉग इन 2009/07/blog-post
4. प्रीति सागर (2015), *हिन्दी दलित साहित्य संचयिता*, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 17
5. वही, पृ. 14
6. सुशीला टाकभौरे (2011), शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 22
7. वही, पृ. 25
8. वही, पृ. 118
9. वही, पृ. 166
10. वही, पृ. 166
11. वही, पृ. 110
12. वही, पृ. 170
13. वही, पृ. 171
14. वही, पृ. 172
15. कौशल्या बैसन्त्री (2009), *दोहरा अभिशाप*, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 19
16. हरिनारायण ठाकुर (2009), *दलित साहित्य का समाजशास्त्र*, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 449
17. वही, पृ. 450
18. ओमप्रकाश वाल्मीकि (1997), *जूठन*, राधाकृश्णन प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 15
19. मोहनदास नैमिशराय (1996), *अपने–अपने पिंजरे*, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 76

20. सुशीला टाकभौरे (2011), शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 22
21. वही, पृ. 50
22. श्यौराज सिंह बेचैन (2014), *उत्तर सदी के हिन्दी कथा–साहित्य में, दलित–विमर्श,* अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, पृ. 251
23. सूरजपाल चौहान (2007), *संतप्त,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 22
24. वही, पृ. 23
25. वही, पृ. 23
26. सुशीला टाकभौरे (2011), शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 52
27. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2009), जूठन, राधाकृष्णन प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 72
28. वही, पृ. 21
29. सुशीला टाकभौरे (2011), *शिकंजे का दर्द,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 17
30. शरणकुमार लिम्बाले, (अनुवादक– सूर्य नारायण रणसुभे) (1991), *अक्करमाशी,* ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 35
31. सुशीला टाकभौरे (2011), *शिकंजे का दर्द,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 62
32. भाषा, मार्च–अप्रैल 2008, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 53
33. शरणकुमार लिम्बाले, (अनुवादक– सूर्य नारायण रणसुभे) (1991), *अक्करमाशी,* ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 35
34. सुशीला टाकभौरे (2011), *शिकंजे का दर्द,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 51
35. प्रमोद कोवप्रत (2016), *हिन्दी दलित साहित्य एक मूल्यांकन,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 73
36. वही, पृ. 73
37. सुशीला टाकभौरे (2011), *शिकंजे का दर्द,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 32
38. ओमप्रकाश वाल्मीकि (1997), *जूठन,* राधाकृष्णन प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 35
39. श्यौराज सिंह बेचैन (2014), *सामाजिक न्याय और दलित साहित्य,* वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 222
40. वही, पृ. 223
41. वही, पृ. 256
42. रमणिका गुप्ता (1998), *युद्धरत आम आदमी,* अक्टूबर–दिसम्बर, पृ. 52
43. श्यौराज सिंह बेचैन (2007), *हंस,* सं. राजेन्द्र यादव, जुलाई 2007, पृ. 63

ISSN 2349-4905

यशपाल की कहानियों में वर्ग–संघर्ष चेतना

डॉ. भारती

प्रखर प्रतिभा और व्यापक सृजनशक्ति के धनी यशपाल अपनी गहन मार्क्सवादी चेतना के लिए जाने जाते हैं। उनके कथा–साहित्य में उनकी मार्क्सवादी चेतना के सूत्र बिखरे पड़े हैं। उन्होंने इस चिन्तन शैली को अपने लेखन के साथ–साथ व्यवहार में भी आत्मसात् किया था। वे मार्क्सवादी जीवन–दर्शन में विश्वास और आस्था के साथ 'कम्युनिज़्म' की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा का समर्थन एवं अनुमोदन करते हुए अपने प्रसिद्ध निबन्ध–संग्रह 'देखा, सोचा, समझा' में एक स्थान पर लिखते हैं– ''मैं जनता को शोषित और अन्याय पीड़ित समझता हूँ। इस अन्याय से जनता की मुक्ति का उपाय 'कम्युनिज़्म' की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को मानता हूँ।''[1] मार्क्स का सिद्धान्त मानव शोषण का विद्रोही है। यशपाल पर इसी चेतना का प्रभाव होने के कारण वे मार्क्सवादी साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं। उनकी क्रान्तिकारी एवं लेखकीय गतिविधियों द्वारा मानव समाज की शोषण से पूर्ण रूप से मुक्ति की भावना सामने आती है, जिसका सशक्त उदाहरण उनके द्वारा समाजवादी साम्यवादी दल का समर्थन और मार्क्सवाद पर विश्वास था। यशपाल के अनुसार क्रान्तिकारी या मार्क्सवादी चेतना का अर्थ विध्वंस के ताडंव में अंगारों के बीच में से नव–निर्मित कमल की पंखुड़ियों की सुकोमलता की–सी भावनाओं का पनपना और संसार का नव–निर्माण ही है। इन मार्मिक भावनाओं को उन्होंने अपने कहानी–संग्रह 'वो दुनिया' की 'भूमिका' में स्पष्ट किया है– ''एक दुनिया के सौंदर्य–सुख और कला के आदर्शों का सम्पूर्ण सार चूस कर मनुष्य जब उसे फल्गु बना देता है, तब इस दुनिया का रस चूस कर संचय की हुई शक्ति उसे नयी दुनिया बनाने के लिए विकल करने लगती है। सौंदर्य और सुख की इस भूख को तृप्त करने के लिए मनुष्य के प्रयत्नों में सृजन की महान शक्ति रहती है।''[2]

यशपाल की कहानियों में पूँजीवादी–सामन्तवादी शोषण वर्ग की मान्यताओं के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना परिलक्षित होती है, जिसमें उनके युग के मानवीय जीवन का संघर्ष उभरकर सामने आता है। इसका स्वरूप उनकी कहानियों के प्रगतिशील एवं विद्रोही पात्रों में उभरता है। उनका इन पूँजीवादी–सामन्तवादी वर्गों के साथ घोर संघर्ष है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनकी कहानी 'साहू और चोर' में इस प्रकार द्रष्टव्य है–''धन तो वास्तव में मेहनत करने वाले किसान और मजदूर ही पैदा करने वाले के हाथों से अधिक से अधिक मात्रा में हथिया सकने की चतुरता ही है। एक तरीका साहू का है दूसरा चोर का।''[3] कार्ल मार्क्स के वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त का अर्थ है– दो वर्गों के मध्य संघर्ष। इसमें पूँजीपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग सम्मिलित हैं, जिनके मध्य सत्ता एवं अधिकारों की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष होता आया है। श्रमिक वर्ग पूँजीपति वर्ग से अपने श्रम का फल माँगता है, जो उसका अधिकार है और पूँजीपति वर्ग अपनी वर्चस्वता को बनाये रखना चाहता है। मार्क्सवाद के वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त

का लक्ष्य मजदूर–वर्ग द्वारा पूँजीपति वर्ग का विरोध कर उसके विनाश के पश्चात् वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है। साहित्यकार की कलम एक ऐसा शस्त्र है, जो परिवर्तन को लाकर क्रान्ति के आधार पर वर्गविहीन समाज की स्थापना को प्रश्रय दे सकता है।

यशपाल अपनी कहानियों में व्यंग्यात्मक शैली द्वारा ऐसे वर्गों पर प्रहार करते हैं। यशपाल की शहरी परिवेश में लिखी गई कहानियों में मजदूर वर्ग की दशा का वर्णन अधिक मिलता है। यशपाल ने पूँजीपतियों द्वारा मजदूर वर्ग के शोषण एवं मिल मालिकों द्वारा मशीनें मँगाये जाने पर अनावश्यक मजदूरों को निकाल देने पर प्रतिक्रिया स्वरूप मजदूर–हड़ताल इत्यादि के चित्र अपने कथा–साहित्य में अनेकों स्थान पर उकेरे हैं। इस संदर्भ में उनकी 'जन सेवक', 'काला आदमी', 'इस टोपी को सलाम', 'साग', 'अंग्रेज का घुँघरू', 'खुदा का खौफ', 'नासपीटे कम्यूनिस्ट', 'नई दुनिया', 'दुःखी–दुःखी', 'कर्मफल', 'दुःख', 'संन्यासी', 'दुःख का अधिकार', 'अभिशप्त', 'चार आने', 'आदमी का बच्चा', 'हवाखोर', 'कोकला डकैत', 'लखनऊ वाले', 'वो दुनिया', 'रोटी का मोल', 'महादान', 'मक्खी या मकड़ी', 'चोरबाज़ारी के दाम', 'कम्बलदान' आदि कहानियों को देखा जा सकता है। यशपाल द्वारा रचित 'नमक हराम' कहानी का पात्र जयसिंह, जो सेठ जीतूमल–खेमचन्द के यहाँ काम करता था। वह लोहे का व्यापारी था, जिसके साथ जयसिंह सरकार की नज़र से बचाकर पापलेन के कपड़े का काम करता था, जिसका कार्यभार पूर्ण रूप से जयसिंह के कन्धों पर था। जयसिंह ने अभी तक सेठ को ढाई–तीन लाख की आमदनी करा दी थी। पर सेठ केवल अपना ही मतलब देखता है। वह जयसिंह को उसकी पूरी मेहनत नहीं देता, जबकि वह कितने जोखिम उठाकर उसका माल सही जगह पहुँचाता और पैसे भी लेकर आता है। जयसिंह कहता है– ''सौ रुपये इनाम और चालीस रुपल्ली तनख़्वाह का एहसान दिखा रहे हो? मैंने ख़तरा झेल झेलकर ढाई–तीन लाख ला–लाकर दिया सो भूल गये?''[4] अंत में वह सेठ के मुँह पर नोट फेंक कर जाता है। यह कहानी पूँजीवादी वर्ग की शोषण व्यवस्था का विद्रूप रूप सामने रखती है। जयसिंह अपनी सही मेहनत न मिलने पर विद्रोह करता है, पर उसे बाहर धकेल दिया जाता है। यशपाल की 'वो दुनिया' कहानी में उन्होंने लेखकीय कर्म करने वाले एक व्यक्ति के द्वारा उसके जीवन की विषमताओं में पूँजीवादी वर्ग की भूमिका को दर्शाया है। वह खुद लाला जी से बचने के लिए बाजार का बहाना कर बाहर जाने को है, क्योंकि लाला को आज कुछ दे देने का वायदा किया था वह कहता है– ''लाला ने अपने परिश्रम से कमा और बचाकर जो रुपया रखा था वह उनका ही परिश्रम था। लाला ने कठिनाई के समय या अपनी आवश्यकता के लिए इसका उपयोग करने का विचार रखा होगा। ख़ैर वह था तो लाला के परिश्रम का परिणाम? मनुष्य के परिश्रम की तरह उस पूँजी में भी उत्पादक शक्ति है। लाला यह परिश्रम दूसरों को उधार देकर उन्हें कुछ पैदावार करने की सुविधा देते हैं और उस पैदावार में से अपने उधार दिए परिश्रम का भाग लेकर संचय करते जाते हैं। इससे मुझे या किसी दूसरे को सिर दर्द क्यों हो? पर देखता हूँ कि सिर दर्द होता है तो क्यों?''[5] वही लाला जो इन्सान को कुछ न समझ उनसे सूद नोचता है अपने भले कामों में चींटियों को आटा खिला कहते हैं–''इन बेचारे असहाय जीवों का संसार में कौन है? आदमी को तो रामजी ने दो हाथ–पाँव दिये हैं''[6] इस पर कहानी के अंत में लेखक ने पूँजीवादियों को खून चूसने वाले कीड़े बताकर समानता का सपना देखते हुए नई दुनिया के नव–निर्माण की आशा जताई है–

 ISSN 2349-4905

"मैं स्वयं इस दुनिया से असन्तुष्ट हूँ और उस दुनिया का सपना देखता हूँ, जिसमें मनुष्य को आत्म–निर्णय का अवसर और अधिकार हो। परन्तु ऐसा कर सकने के लिए समाज के रक्त को मुनाफा बनाकर चूस लेने वाले कीड़ों को दूर करना ही होगा। यह कीड़े समाज के शरीर को टाइफाइड, तपेदिक, कोढ़ पूँजीवाद या तानाशाही से ग्रस्त किये हैं परन्तु व्यक्तिगत रूप से मुक्ति चाहने वाले लोग, मेरे उस दुनिया के स्वप्न को हिंसा बताकर उसका विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में उनका स्वार्थ ही सबसे बड़ा समाज हित और न्याय है।"[7]

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या यशपाल का देखा गया सपना आज पूरा हुआ है या नहीं। समाज में हर वर्ग अपनी सत्ता कायम रखने के लिए अलग–अलग पेंतरे अपनाता रहता है और निम्न वर्ग को उसकी परिस्थिति से ऊपर उठने के अवसर प्रदान न कर उसे महँगाई, बेरोज़गारी, शोषण इत्यादि समस्याओं की खाई में धकेलता चला जाता है। इसी संग्रह की 'नई दुनिया' कहानी में मिल मालिक व मजदूर यूनियन के संघर्ष का विध्वंसकारी रूप चित्रित किया गया है, जिसमें कहानी में मिस्टर सरीन कुन्दनलाल माथुर (यूनियन लीडर) को लालच देता है कि वह स्वयं रहे और अधिक तनख़्वाह ले और जिनको निकाला गया है उनकी वकालत न करे, क्योंकि उनका स्थान मशीनों ने ले लिया है। लेकिन वह यह शर्त मंजूर नहीं करता। जब मिल के सामने मजदूर–वर्ग नारेबाजी कर रहे थे, तभी मिसेज सरीन आई उससे पहले मिस्टर सरीन लॉरी में ड्राइवर की जगह चढ़ गये–"आगे की लॉरी ज़ोर से थर्रा उठी। लॉरी की दैत्य की–सी आँखों से निकलती तीव्र चिन्ग़ारियों के प्रकाश में फाटक और सामने लेटे हुए मजदूर चमक उठे। वे आगे बढ़ ही रही थी कि लॉरी चल पड़ी। उन्होंने देखा, लेटे हुए मजदूर चिल्लाते हुए उठकर एक ओर खड़े होने लगे। भीड़ की चिल्लाहट और नारों के बावजूद लॉरी आगे बढ़ी। मिसेज सरीन को दिखाई दिया, अब भी एक आदमी लेटा हुआ था। लॉरी झटका खाकर उसे कुचलती हुई आगे निकल गई।"[8] इस संघर्ष के मध्य माथुर और सरीन दोनों ही मर गये माथुर की मृत्यु बलिदान बन गई और सरीन की मृत्यु उसके कर्मों का फल। यह कहानी वर्ग–संघर्ष का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'काला आदमी' कहानी में शैक नामक पात्र काले रंग के कारण आम इन्सान के ताने सुनने को मजबूर है। यह मोटे आदमियों का नौकर है, पर है उसी की कौम का काला आदमी। लेखक ने कान्स्टेबल के माध्यम से अंत में कहलवाया है–"ठीक तो कहते हैं हुजूर और क्या? कोई अपने को गाली दे, ससुर का सिर फोड़ दें। काले आदमी की क्या गाली? ...उई तो जात ठहरी। उई से कौन इनकारी है?"[9] वह अंत में इस सोच में पड़ जाता है कि काले–गोरे के रंग भेद को कैसे धोया जाए? 'रोटी का मोल' कहानी के लेखक ने मुनाफ़ाखोर सेठों पर कड़ा प्रहार करते हुए उनके ही मुनीम की दयनीय स्थिति का वर्णन व्यंग्यात्मक शैली में किया है कि उसके पास गोदामों की चाबियाँ होते हुए भी उसे और उसके परिवार को दाने–दाने के लिए तरसना पड़ता है। वह बाज़ार में चढ़े दामों के कारण एक रुपये का आटा घर दे जाता है। यहाँ खाने के लिए तड़पते–कलपते उसके स्वयं के बच्चों का एक दृश्य–"रोटी तवे से उतरने से पहले ही मुनिया समीप आ बैठी। कटोरी में कछली भर दाल का पानी डाल, बिन्ध्या रोटी मुनिया के हाथ में दे रही थी कि गली में लट्टू खेलना छोड़ भानू दौड़ा आया–हम लेंगे। मुनिया पहले दाल भी खा चुकी है हाँ, हम पहले विन्ध्या ने रोटी के दो टुकड़े कर लड़के–लड़की को बांट दिये।"[10]

यशपाल के 'अभिशप्त' कहानी–संग्रह में

संकलित 'आदमी का बच्चा' कहानी में वर्ग–संघर्ष के चलते मिल–मालिक की बच्ची 'डॉली' और गरीब मिल–मजदूर के बच्चों की परिस्थितियों के ज़रिये मजदूर वर्ग की निम्न हालत का ब्यौरा दिया है। माली का बच्चा भूख से मर गया इस पर डॉली के पूछने पर आया कहती है–बैरी की आँख में राई–नोन! हाय मेरी मिस साहब, तुम ऐसे आदमी थोड़ी ही हो। भूख से मरते हैं कमीने आदमियों के बच्चे।''[11] उसका पिता मिल में चीफ़ इंजीनीयर है इसलिए। इस प्रकार यशपाल की कहानियों में वर्ग–संघर्ष कई रूपों में देखने को मिलता है।

निष्कर्षतः प्रगतिशील साहित्यकार यशपाल अपनी कहानियों के माध्यम से वर्ग–संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करते हुए एक स्वस्थ्य, सजग, निरावलम्बित एवं संघर्ष विहीन, समानता की भावना से परिपूरित स्वस्थ समाज का सपना देखते हैं। उनके कहानी–साहित्य में 'वर्ग–संघर्ष' के अनेकों उदाहरण सामने आते हैं। वे मार्क्सवादी चेतना के प्रबल समर्थक थे। उनकी कहानियों में रंगभेद, असमानता, अन्याय, शोषण एवं अमानवीयता के विरूद्ध तीव्र विरोध मिलता है। वे चाहते थे कि आम आदमी एवं श्रमिक भी अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए स्वस्थ, सुखी एवं सम्पन्न जीवन व्यतीत करें। वे श्रमिक वर्ग को देश की अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे तथा उनके चहुँमुखी कल्याण एवं विकास की भावना रखते थे।।

संदर्भ

1. यशपाल (1951), 'देखा, सोचा, समझा', विप्लव प्रकाशन, लखनऊ, पृ. 108
2. वही, जून 1962, पृ. 5
3. वही, 'चित्र का शीर्षक', दिसम्बर 1955, पृ. 100
4. वही, मई 1959, पृ. 30
5. वही, जून 1962, पृ. 111
6. वही, पृ. 118
7. वही, पृ. 119
8. वही, पृ. 106
9. वही, पृ. 33–34
10. वही, पृ. 50
11. वही, पृ. 83

 ISSN 2349-4905

मौलाना आजाद : पत्रकार के रूप में

डॉ. शत्रुघ्न कुमार पाण्डेय

पत्रकारिता राष्ट्र की आत्मा और उसकी जीवन शक्ति को पुनर्जागृत करने की सशक्त माध्यम है। यह राष्ट्रीय जीवन की समस्त गतिविधियों, अनुभवों, अनुभूतियों, जागृति और पतन का दर्पण होती है तथा राष्ट्र के सुख–दुःख में दुविधारहित होकर शामिल होती है। इसलिए उसकी गहरी सहानुभूति, सहभागिता और आस्था अपनी देश की जनता के साथ होती है, न कि विदेशी शासकों के प्रति। वह राष्ट्र के हितों की जागरुक रक्षक और राजनीतिक चेतना की अग्रदूत होती है।[1] मौलाना अबुल कलाम आजाद (ई. 1888–1958) ऐसी ही पत्रकारिता के दिव्य रत्न थे। उनकी पत्रकारिता ने भारतीय जनता के बीच साम्प्रदायिक जड़ता को नष्ट करने में, राष्ट्रीय भाव और चेतना के उदय एवं उत्थान में, राष्ट्रीय आंदोलन को संगठित करने और विकास में, साहित्यों और संस्कृतियों की सृष्टि में, विश्व बंधुत्व की स्थापना में तथा भारत के धार्मिक–आध्यात्मिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

मौलाना आजाद के युग में पत्रकारिता मिशन और स्वतंत्रता आंदोलन की वाहक थी। वह राष्ट्रीय एवं मानवीय मूल्यों से संबंधित सत्कार्य थी, जो देशवासियों की नस–नस में स्वतंत्रता, समानता एवं विश्व बंधुत्व की भावना का संचार करती थी।[2] पत्र–पत्रिकाएं जन सेवा, जन जागृति एवं जन समर्पण की भावना से निकाले जाते थे।[3] फलतः पत्रकारिता व्रत थी, वृत्ति नहीं।[4] ऐसी आदर्श पत्रकारिता के पत्रकार मौलाना आजाद थे। 'विशाल भारत' के अनुसार – पराधीन भारत में पत्रकारिता के लिए पत्रकारी, पत्रकला, संवाद–पत्रकला, वृत्त विवेचन जैसे शब्द प्रयुक्त होते थे और ऐसे कार्यों में संलग्न व्यक्ति पत्रकार कहे जाते थे।[5] उस काल में सत्य का अनवरत् अन्वेषण, काल की तीव्र गति को पकड़ने का प्रयास, मानवता की सार्थक सेवा, उत्तरदायित्व, स्वतंत्रता, निर्भिकता, ईमानदारी, सटीकता, नैतिकता, निष्पक्षता और शिष्टता पत्रकारिता के मानदंड थे[6], जिनका दिग्दर्शन बखूबी मौलाना आजाद की पत्रकारिता में होता है।

मौलाना आजाद बहुआयामी प्रतिभा और परिपक्व मानस के व्यक्ति थे। वे अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान, क्रांतिकारी विचारों के स्वतंत्रता सेनानी और असाधारण पत्रकार थे। उनका व्यक्तित्व उनकी पत्रकारिता में स्पष्ट दिखता है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि बुजुर्गी वर्षों के हिसाब से नहीं आती, बल्कि बुद्धि के अनुसार होती है तथा मनुष्य दिल से धनवान होता है, संपत्ति से नहीं। हमारे इतिहास में यह बात सबसे अधिक मौलाना आजाद पर ठीक बैठती है।[7]

मौलाना आजाद की पत्रकारिता की यात्रा साहित्यिक पत्रकारिता से शुरू हुई थी, जब गली–मुहल्लों में खेलने–कूदने की उम्र में उनकी लिखी शायरी और लेख पत्र–पत्रिकाओं में प्रकशित होते थे। मात्र 11 वर्ष में 'नौरंग–ए–आलम' (1899) और 12 वर्ष में साप्ताहिक 'अलमस्बाह' (1900) के संपादन से उनकी पत्रकारिता की जो विकास यात्रा

ISSN 2349-4905

शुरू हुई, वह कभी थमी नहीं, बस! उसका स्वरुप समय के साथ बदलता गया और अपनी मंजिल को मुक्कमल अंजाम तक पहुँचता रहा। 'अलमस्बाह' का संपादकीय शीर्षक 'ईद' इतना चर्चित रहा कि 'पैसा अखबार' (लाहौर) जैसे स्थापित पत्रों ने उसे अपने यहां जगह दी।[8] यद्यपि दोनों पत्र अल्पजीवी रहे, फिर भी आजाद की कलम कभी थमी नहीं। 'एलान–ए–हक' (सत्य की घोषणा) लिख कर उन्होंने प्रगतिशील मानसिकता का समर्थन किया और युवाओं के भटकाव पर कड़ी टिप्पणी की।[9] 'सिलानुस सिदक' (कलकत्ता, 1903) में छपे सामाजिक सुधार, तथा साहित्य और सर्जनात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वाले लेखों से समकालीन पत्रकारिता जगत आजाद की लेखनी का कायल था। उनकी परिपक्व आलेख पर प्रशंसनीय टिप्पणी कई पत्रों ने लिखे।

मौलाना आजाद ने कई पत्रों के लिए लेख भी लिखा और संपादन कार्य भी किया। 'मखजन, अहसानुल अखबार, खदंग नजर, अलपंच, अलनदवा, वकील, एडवर्ड गजट, मुरक्का आलम, दारुल सल्तनत' जैसे कई पत्रों की सेवा कर मौलाना आजाद ने उन्हें बुलंदी पर पहुंचाया। अपनी सोच, लेखन शैली, अंदाज ऐ–बयां और पत्रों की साज–सज्जा से जल्द ही मौलाना आजाद ऊर्दू पत्रकारिता की आकाश के चमकीले तारे में शुमार होने लगे और उनका शिबली, नौबत राय, शेख गुलाम मोहम्मद जैसे प्रसिद्ध पत्रकारों से शोहबत बढ़ने लगी।

1906 तक मौलाना सिद्धस्त पत्रकार बन चुके थे। तेहरान विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नफीसी ने लिखा कि उनकी तक्रशक्ति, स्मरण क्षमता, भाषा और विद्वता का मैं कायल हूँ। मैंने मौलाना आजाद से महान पंडित नहीं देखा है।[10] उनकी लेखनी में आवाम की चेतना को जागृत और उद्वेलित करने की जादुई शक्ति थी। उनके लेख से लोग प्रेरणा पाते थे और उनकी भाषा से सिखने की कोशिश करते थे। उनके विचार अंधविश्वासों पर कड़ा प्रहार करते थे। आजाद ने स्वयं कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला 'दारुल सल्तनत' को पुरातनपंथी विचारों का प्रतिनिधित्व करने के कारण छोड़ दिया था।

20वीं सदी की पत्रकारिता नयी चेतना के साथ अंगड़ाई ले रही थी। देश का क्षितिज बंग विभाजन, स्वदेशी आंदोलन, क्रांतिकारी गतिविधियों और मुस्लिम लीग की नीतियों के कारण तृप्त था। इस आग में राष्ट्रीय चेतना के सजग प्रहरी के रूप में आहुति देने के लिए मौलाना आजाद के अंदर का पत्रकार उन्हें आंदोलित कर रहा था। उनकी पत्रकारिता स्वाधीनता के लिए वातावरण तैयार कर गुमराह हो रहे 'राजभक्त' युवाओं को राह दिखाना चाह रही थी। यद्यपि वे 'वकालत' से जुड़े थे, फिर भी उनकी पत्रकारिता की क्षुधा शांत नहीं हो पा रही थी। 'वकालत' का फलक उनके लिए छोटा पड़ रहा था। आजाद स्वयं का कोई पत्र निकालना चाह रहे थे।

वास्तव में जागरण उसी धरातल पर होता है, जिस पर चेतना अस्तित्व में होती है। परिवर्तन के प्रबलतम वाहक दार्शनिक प्रवृत्ति और धार्मिक भावना ही हो सकती है। यदि इस प्रवृत्ति एवं भावना का लोप हो जाए तो देश की आत्मा निर्जीव हो जाएगी।[11]

मौलाना आजाद ने निश्चय किया कि वे एक ऐसा अखबार निकालेंगे, जिसकी छपाई सुंदर हो, उसमें चित्र हों, विचारपूर्ण और उत्कृष्ट साहित्य हों, उसके सामने स्पष्ट मिशन हो तथा वह भारतीयों खासकर मुसलमानों में राजनीतिक जागरुकता ला पाने में सक्षम हो और जन मानस के मस्तिष्क से अंग्रेजी सरकार की भक्ति को निकाल कर स्वाधीनता प्राप्ति की भावना को जागृत करे।[12] अंततः उन्होंने 13 जुलाई 1912 को कलकत्ता से साप्ताहिक 'अल–हिलाल' निकालना शुरू किया। इस पत्र ने उर्दू पत्रकारिता का गौरव बढ़ाया, भारतीय राजनीतिक आंदोलन को तेज किया और स्वाधीनता संग्राम का

 ISSN 2349-4905

यशस्वी पथ प्रदर्शन किया। इस पत्र का वार्षिक शुल्क आठ रुपये था। आकार 36×24 सेंमी. था। इलेक्ट्रॉनिक प्रिंटिंग वर्क्स, कलकत्ता के मजरुल हक द्वारा इसका मुद्रण कराया जाता था। इसकी पृष्ट संख्या 20 थी।[13] 'अल–हिलाल' के प्रथम अंक में विज्ञापनदाताओं के लिए भी सूचना थी –''अल–हिलाल की 2000 प्रतियां प्रकाशित की जाती हैं। प्रति सप्ताह संख्या बढ़ती जाएगी। इसका प्रकाशन शिक्षित एवं उच्च विचारधारा के लोगों के लिए है, जो साधारण पत्र–पत्रिकाओं में रुचि नहीं लेते। विज्ञापन के लिए टाइटल के दो पेज निर्धारित हैं।''[14] प्रकाशन के छह माह के भीतर इस पत्र की 11,000 प्रतियां बिकने लगीं थी।[15]

'अल–हिलाल' की अहमियत कई कारणों से थी–1. यह उर्दू का सम्पूर्ण साप्ताहिक था, जो सचित्र था और प्रकाशन सामग्री तथा तकनीक दोनों स्तर पर श्रेष्ठ था। 2. इसका मुद्रण उर्दू टाइप में होता था तथा प्रसार संख्या 20,000 से अधिक थी। 3. इसके विषय में विविधता थी और नामी लेखकों की रचनाओं का नियमित प्रकाशन होता था। 4. उर्दू समाचार पत्रों के लिए लेखन की एक नयी शैली विकसित की, जिससे समाचार अपने पाठकों के लिए संवाद बन गये।

'अल–हिलाल' के पहले अंक में भारतीयों के लिए कुछ भी नहीं था। न उसमें रोजमर्रा की समस्याएं थी, न अतीत था और न ही भविष्य का संकेत ही था। उसमें थी केवल सीमा पार की बातें। बावजूद इसके पत्र ने लोगों को सम्मोहित किया। हालांकि बाद के अंक में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नज्म, गजल, समीक्षा, आलोचना आदि सभी विषय आने लगे।[16] मिर्जा गालिब के अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन करके पत्र ने जहाँ अपनी लोकप्रियता बढ़ायी, वहीं गालिब साहित्य पर शोध और आलोचना के नये द्वार खोल दिये।[17] मौलाना आजाद ने लिखा कि 'अल–हिलाल' एक दावात है। इसके तमाम मकसद और उसूलों का एकमात्र केन्द्र बिन्दु दीन इलाही को नये रूप में ढालना और बुनियादी उसूल की अच्छी बातों का हुक्म देना और बुरी बातों से रोकना है।[18]

'अल–हिलाल में मध्य युग के विचारों, 18वीं शताब्दी के बुद्धिवाद और नये युग के विचारों का सुंदर मिश्रण था। पत्र ने उर्दू जन मानस खासकर शिक्षित मुस्लिम युवकों के दिलों में हलचल मचा दी।[19] डॉ. जाकिर हुसैन ने कहा– ''अल–हिलाल के पढ़ने के बाद जो चिनगारी दिल में भड़की है, वह जीवन भर एक शोले की तरह उन्हें सक्रिय बनने की प्रेरणा देती रहेगी।''[20] मौलाना हुसैन अहमद, मौलाना मो. अली आदि ने इसकी जम कर तारीफ की। मौलाना मो. अली ने अपने साप्ताहिक पत्र 'कामरेड' में लिखा – ''..........अल–हिलाल' पत्रकारिता की अभिनव शुरुआत है। इससे देश के साथ–साथ तुर्की, पर्सिया, मोरक्को और इस्लामी दुनिया की नियमित जानकारी मिलती रहेगी।[21] महादेव देसाई ने लिखा कि संकुचित सोच वाले राजभक्तों एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों के बीच इस पत्र ने इतनी उत्तेजना फैला दी कि शाहबजादा आफताब आलम खां एवं अन्य ने इसके खिलाफ आंदोलन शुरू कर दिया और कलकत्ता में इसके प्रसार को प्रभावित किया। इसके संपादक पर हमला बोला।[22]

ब्रिटिश शासन राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीयों की राष्ट्रीय एकता को जड़ से खोदने के लिए हिन्दू विरोधी नीति को प्रोत्साहित कर रहा था। शिक्षित भारतीयों में सिविल सेवा, देवनागरी–उर्दू भाषा विवाद और गो रक्षा के मुद्दों को उछाल कर विद्वेष एवं साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दे रही थी। सैयद अहमद खाँ द्वारा चलाया गया अलीगढ़ आंदोलन अंग्रेजी रुख का ही समर्थक था।[23] मौलाना आजाद के लेखों ने अलीगढ़ आंदोलन की परंपरा को ही बदल दिया और राष्ट्रवादी मुसलमानों का दल तैयार किया।

ISSN 2349-4905

सैयद अहमद खाँ के कार्यों पर उन्होंने लिखा – ''जिस समय हिन्दुओं ने अपनी सारी शक्ति को देश के संघर्ष के लिए समर्पित कर दिया और वे स्वतंत्रता की आग प्रज्ज्वलित कर रहे थे, उस समय भारत के मुसलमान शिक्षा की एक 'ठंडी लाश' लिए बैठे थे। मुसलमानों ने न केवल अपने ही हाथ–पांव तोड़े, बल्कि उनका प्रयास था कि हाथ–पांव वालों को भी लंगड़ा बना दिया जाए। वस्तुतः मुसलमानों के कानों में यह मंत्र फूँक दिया गया था कि अभी समय नहीं आया और वे देश की प्रगति के रास्ते में बाधा बन गये।''[24]

मौलाना आजाद ने ब्रिटिश सरकार के 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर करारा प्रहार किया। बंगाल विभाजन की अंग्रेजी चाल को उन्होंने पूरी तरह सफल नहीं होने दिया और अंग्रेजी दिमाग को करारी शिकस्त दी। लेख लिखकर उन्होंने अंग्रेजों की इस नीति का प्रतिकार किया। उन्होंने तुर्की और अन्य इस्लामी देशों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना की।[25]

मौलाना आजाद स्वतंत्र जीवन के हिमायती थे। उन्होंने देखा कि शिक्षित मुसलमान दोहरी जिंदगी जी रहा है। एक ओर वह ब्रिटिश औपनिवेशिक मूल्यों और सिद्धांतों के प्रभाव के नीचे झुकता जा रहा है और दूसरी ओर अपनी ही जड़ता का शिकार है। फलतः उनकी पत्रकारिता ने निष्प्रभावी जीवन जी रहे युवाओं को झकझोरा। उन्होंने कहा कि इस्लाम के लिए गुलामी मृत्यु के समान है। इसलिए मुसलमानों को विदेशी शक्तियों को समाप्त करने के लिए संघर्ष से पीछे नहीं रहना चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि इस स्वतंत्रता की लड़ाई में भारत में मुसलमानों ने ध्यान नहीं दिया और वे पीछे रह गये, तो उन्हें कभी भी क्षमा नहीं किया जा सकता। मुसलमानों के लिए यह कार्य धार्मिक कर्त्तव्य की तरह हैं। 26 जनवरी 1922 को कलकत्ता की एक अदालत में अपने ऊपर मुकदमे की सुनवाई को लेकर उन्होंने लिखा कि किसी भी परिस्थिति में कानून सम्मत नहीं है कि मुसलमान अपनी स्वाधीनता खो देने के बाद जीवित रहे। उन्हें अपने आप को नष्ट कर देना चाहिए या स्वाधीन हो जाना चाहिए।[27]

मुस्लिम लीग और कांग्रेस को एक मंच पर लाने में भी आजाद की लेखनी की प्रमुख भूमिका रही थी। मौलाना की आवाज पर जब पढ़े–लिखे मुस्लिम युवक मुस्लिम लीग से अलग होने लगे तो लीग ने अपनी कमजोर होती जमीन को बचाने के लिए नीति बदल दी। 1913 के कांग्रेस के करांची अधिवेशन में लीग और कांग्रेस एक मंच पर आये, जिसकी अध्यक्षता लीग के नवाब सैयद मोहम्मद बहादुर ने की। इस अधिवेशन में प्रस्ताव पारित कर भारत के स्वशासन संबंधी लीग की विचारधारा का स्वागत किया गया। साथ ही राष्ट्रीय प्रश्नों पर सम्मिलित और एकीकृत कारवाई के लिए तरीके खोजने के लीग के प्रस्तावों की सराहना की गयी।[28] 1916 में मुस्लिम लीग और कांग्रेस को एक मंच पर लाने में भी आजाद की लेखनी की भूमिका रही थी।

मौलाना आजाद जानते थे कि शिक्षित मध्यम वर्ग देश का अंतःकरण और मस्तिष्क होता है। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा में मजा और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र यह वर्ग विचार स्वातंत्र्य में अग्रणी होता है। फलतः उन्होंने इस वर्ग को जगाने की कोशिश की। उनके अल–हिलाल के प्रकाशन का उद्देश्य ही शिक्षित एवं उच्च विचारधारा के लोगों को जगाना था, जो साधारण पत्र–पत्रिकाओं में रुचि नहीं लेता था।[29] उन्होंने लिखा– ''अगर मुझे प्रलय का सुर मिल जाये तो इससे मैं अपमान और बदनामी की गहरी निद्रा में सोये लोगों को जगाऊँगा। उन्हें मृत्यु के स्थान पर जीवन, पतन की जगह उत्थान और अपमान की जगह सम्मान प्रदान करुंगा।''[30] 'उर्वतुल वसका' में उन्होंने शिक्षित वर्गों से आह्वान किया कि

 ISSN 2349-4905

यूरोपीय साम्राज्यवाद एक फितना है। इसे जड़ से उखाड़ फेंको। [31]

मौलाना आजाद साम्प्रदायिक राजनीति के आलोचक थे। 1913 में अयोध्या में गो हत्या को लेकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच तनाव उत्पन्न हो गया और इसके बाद दंगा हो गया। इस पर मौलाना ने मुसलमानों से जोर देकर कहा कि साम्प्रदायिक शान्ति के लिए जरुरी है कि वे गाय को मारने के अधिकार पर जोर न दें। मौलाना के इस आह्वान से उनके अभिन्न मित्र हकीम अजमल खां और मौलाना मोहम्मद अली नाराज हो गये और उनके बीच विवाद उत्पन्न हो गया। बाद में उनके मित्रों ने अपनी नासमझी स्वीकार की और इस पहल के लिए उनकी सराहना की।[32]

वे हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए लगातार लिखते रहे। 'अल–हिलाल' के एक अंक में उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया था– ''हिन्दुस्तान के सात करोड़ मुसलमान 22 करोड़ हिन्दू भाइयों के साथ मिल कर इस प्रकार रहें कि हिन्दुस्तान एक कौम, एक नेशन बन जाए।''[33] उन्होंने लिखा – ''दुनिया के 40 करोड़ मुसलमानों की स्वाधीनता भारत की आजादी से जुड़ी है। खिलाफत की समस्या का समाधान भारत की आजादी पर निर्भर है और भारत की स्वाधीनता हिन्दू–मुस्लिम एकता के बिना कदापि संभव नहीं है।''[34]

उन्होंने लिखा – ''बादलों के पार के किसी स्वर्ग से कोई देवदूत धरती पर उतरे और दिल्ली के कुतुबमीनार पर खड़ा होकर घोषणा करे कि अगर भारत हिन्दू–मुस्लिम एकता को त्याग दें तो उसे 24 घंटे के अंदर स्वराज्य मिल जाएगा तो मैं स्वराज्य की मांग त्याग दूंगा। लेकिन हिन्दू–मुस्लिम एकता को नहीं त्यागूंगा, क्योंकि अगर स्वराज्य आने में देरी होती है तो वह केवल भारतीयों की हानि होगी, लेकिन अगर एकता नष्ट होती है तो वह संपूर्ण मानव जाति की क्षति होगी।''[35]

1909 में जिस भारतीय असंतोष को 'मार्ले मिंटो सुधार' दूर नहीं कर सका, उस असंतोष को ज्वालामुखी बनाया 'अल–हिलाल' ने, जिसका उबलता लावा चारों ओर फैल गया। मोहम्मद इकबाल ने लिखा कि 'अल–हिलाल' से मौलाना आजाद ब्रिटिश नीतियों की धज्जियां उड़ाने लगे। उनकी ओजस्वी लेखनी से निकलने वाली आग संपूर्ण मुस्लिम समुदाय को रोशनाल में जलाने लगी।[36]

ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में 'अल–हिलाल' खतरनाक विचारों वाला पत्र बन गया था। विशेषकर युद्ध काल में। वह उन तथ्यों को बार–बार प्रकाशित कर रहा था, जो सरकार की दृष्टि में आपत्तिजनक था।[37] इसलिए सरकार ने उसकी जमानत को दो बार जब्त करने के आदेश जारी किये।[38] पहली बार 18 सितंबर 1913 को 2,000 रुपये की जमानत मांगी गयी, जब पत्र ने 'मश्हद अकबर' नाम से लेख प्रकाशित किया था।[39] इस लेख में कानपुर में बेगुनाह बच्चों एवं स्त्रियों पर गोली चलाने की भर्त्सना की गयी थी तथा वहां के जन मानस को ब्रिटिश पराधीनता के बंधन को तोड़कर आजाद होने के लिए प्रेरित किया गया था। दूसरी बार 16 नवंबर को शासन ने 'अल–हिलाल' की सुरक्षा राशि जब्त कर ली और 10,000 रुपये की नयी जमानत मांगी[40] और इसे जमा न करने पर 14–21 अक्टूबर 1914 का अंक जब्त कर लिया। फलतः 18 नवंबर को बाध्य होकर मौलाना आजाद ने इस पत्र को बंद कर दिया। पत्र के दो लेखों 'खदीसुलजुनूद' और सुकूत इंटोरप' को सरकार ने आपत्तिजनक माना था। बेल्जियम के एक चित्र पर भी एतराज किया गया था।[41]

'अल–हिलाल' का प्रकाशन बंद होने के बाद मौलाना आजाद ने कलकत्ते से ही 12 नवंबर 1915 को उर्दू साप्ताहिक 'अल–बिलाग' का प्रकाशन शुरू

ISSN 2349-4905

किया। इसका साप्ताहिक का नाम 'कुरानिक फेज' था।[42] लेकिन दो अंकों को संयुक्तांक के रूप में पखवाड़े में एक बार इसका प्रकाशन किया जाता था। फरवरी 1916 में इस पत्र के केवल तीन अंक निकले और आखिरी तीन अंक 15–16–17 तथा 17–24–31 मार्च को प्रकाशित हुए।[43] इस पत्र में राजनीतिक विषयों को कम जगह थी। इस्लाम धर्म व शिक्षा, सर्जनात्मक साहित्य और आलोचना इसमें अधिक थी।[44] इस पत्र की धार भी राष्ट्रवादी ही थी। उसकी ललकार से अलीगढ़ आंदोलन के साम्प्रदायिक नेतृत्व को राजनीति का मैदान छोड़ना पड़ा। इसके बाद डिफेंस ऐक्ट की धारा 3 के अंतर्गत 23 मार्च 1916 को शासन ने हुक्म दिया कि मौलाना आजाद एक सप्ताह के भीतर बंगाल प्रांत से बाहर चले जाएं। दूसरी प्रांतीय सरकारें –पंजाब, दिल्ली, संयुक्त प्रांत, मद्रास, बंबई– उनके प्रवेश पर पहले ही प्रतिबंध लगा चुकी थीं, इस कारण 30 मार्च 1916 को अकेले ही रांची के लिए प्रस्थान किया।[45]

रांची में नजरबंद मौलाना आजाद की पत्रकारिता अभी भी जिंदा थी। उन्होंने सैयद सुलेमान नदवी को पत्र लिखा कि 'अल–बलाग' जारी रहेगा। आप और मौलवी अब्दुर सलाम दो कॉलमों का प्रबंध करें, शेष तीन को मैं स्वयं लिख दूंगा। ...बाबुत–तफसीर मैं स्वयं लिखूंगा।... ।[46] इस प्रकार तमाम कोशिशों के बावजूद वे 'अल–बलाग' को जारी नहीं रख सके।

रांची नजरबंदी से मुक्ति के बाद अपने विचारों को जन तक पहुंचाने के लिए मौलाना आजाद अब्दुल रज्जाक मलीहाबादी के संपादकत्व वाले 'पैगाम' (कलकत्ता, साप्ताहिक, 23 दिसंबर 1921) से जुड़े। इस पत्र में मौलाना की हैसियत संरक्षक की थी, परन्तु वे इसके सर्वेसर्वा थे। 'पैगाम' ने अपने पहले अंक में लिखा– ''उसके प्रकाशन का उद्देश्य राष्ट्रीय आंदोलन को सक्रिय और गतिशील बनाना है। इसमें इल्मी और मजहबी लेख के अलावा कुरान की व्याख्या भी प्रकाशित होगी।''[47] 'पैगाम' राजनीतिक विचारों वाला अखबार था। कलकत्ता में 17 नवंबर 1921 को प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन के विरोध पर इस अखबार ने जो विचार प्रकट किया, वह राष्ट्रीय एकता, सद्भाव और स्वाभिमान को मजबूत करने वाला था।

मौलाना आजाद ने ऐलान किया– 'प्रिंस ऑफ वेल्स का आगमन' हिन्दुस्तान की खुद्दारी और इस्लाम की मुहब्बत की जोर आजमाईश है। 17 नवंबर इम्तिहान का दिन है। हर जगह आगमन का बायकाट हो और हड़ताल हो।''[48] पत्र में मौलाना आजाद ने जनता के समक्ष कांग्रेस के कार्यक्रम पर 'अमन और सुकून' शीर्षक से लेख भी लिखा था।[49] 'अल–हिलाल' की तुलना में निहायत जन साधारण की भाषा का इस्तेमाल इस पत्र में किया गया था, इससे इस पत्र को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति और जन–जुड़ाव में काफी सहायता मिली। जवाहर लाल नेहरु ने लिखा कि 'अल–हिलाल' विशिष्ट भाषा और पांडित्य का अखबार था और इसमें नयी और सारगर्भित भाषा संरचना का प्रयोग था, जो पर्सियन से प्रभावित थी।[50] 16 दिसंबर 1921 को 'पैगाम' का अंतिम अंक निकला और यह पत्र बंद हो गया।

इसके बाद मौलाना की इच्छा से अब्दुल रज्जाक मलीहाबादी ने 1 अप्रैल 1923 को कलकत्ता से अरबी मासिक 'अल–जामिया' प्रकाशित किया। मार्च 1924 में अंतिम अंक निकला और यह पत्र बंद हो गया। पत्र ने भारत की स्वाधीनता संघर्ष से अरब दुनिया को परिचित कराया और उसकी सहानुभूति बटोरी। यह पत्र खिलाफत आंदोलन का समर्थक और इस्लामी एकता का अलमबदार था।[51]

1925 के बाद उत्पन्न हुई राजनीतिक रिक्तता को भरने के उद्देश्य से मौलाना आजाद ने 'अल–हिलाल' के पुनर्प्रकाशन का निर्णय लिया। इसका पहला अंक 'अल हिलानी सानी' के नाम से 10 जून

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

 ISSN 2349-4905

1927 को प्रकाशित हुआ। 9 दिसंबर 1927 को पत्र का अंतिम अंक निकला और यह बंद हो गया।[52] इस दौर के 'अल हिलाल' में पुराने तेवर नहीं थे और मौलाना आजाद भी भारतीय राजनीति में उलझे होने के कारण पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते थे। फिर भी इस पत्र में संजीदगी, मानवीय अनुभूति और राजनीतिक परिपक्वता थी तथा भाषा ओजपूर्ण और विचारोत्तेजक थी।

उनकी पत्रकारिता मानती थी कि धार्मिक सार्वभौम एवं मानवीयता के चरण तक समाज के विकसित होने से पहले उसे राष्ट्रवाद के चरण से गुजरना होगा।

मौलाना आजाद की पत्रकारिता ने समन्वित राष्ट्रीयता के विचारधारा को नये सिरे से प्रतिपादित किया। उन्होंने लिखा – ''बुनियादी सच्चाइयां प्रत्येक धर्म में मौजूद हैं। इस्लाम की प्रेरणा मुझे भारतीयता पर गर्व करने को कहती है। मैं महसूस करता हूँ कि मैं भारतीय हूँ। मैं अविभाज्य भारतीय राष्ट्रीयता का अंग हूँ। मैं इस बात को किसी भी कीमत पर त्यागना नहीं चाहता।[53] हिन्दू और मुसलमान 1100 वर्षों से आपस में इतने रच–बस गये हैं कि उनमें अलगाव की बात करना बेबुनियाद है। जो इस तरह की बातें करते हैं, उनकी धारणा बिल्कुल अस्वाभाविक है और ऐसे विचार यथार्थ की भूमि पर कभी नहीं पनप सकते।[54]

मौलाना आजाद प्रेस की आजादी के प्रबल समर्थक थे। 'अल–हिलाल' के 28 मई 1913 के अंक में उन्होंने 'उर्दू प्रेस अलीगढ़' की जमानत पर कड़ा लेख लिखा और प्रतिबंध मुक्त पत्रकारिता की वकालत की। 18 सितंबर 1913 को जब पहली बार 'अल–हिलाल' की जमानत जब्त की गयी, तो 2,000 रुपये जमा कर उन्होंने इसका प्रकाशन जारी रखा और इस संबंध में अग्रलेख भी लिखा। पाठकों ने जब सहायता के लिए मनिऑर्डर भेजा तो सधन्यवाद उन्होंने उसे भी लौटा दिया। उन्होंने समकालीन पत्रकारों के सहयोग से 'इंडियन प्रेस एसोसिएशन' की बुनियाद रखी, ताकि सरकार की गैगिंग ऐक्ट से पत्र, पत्रिकाओं और पत्रकारों की रक्षा की जा सके। इस मसले पर हुई सभा में उन्होंने कहा – ''जो आम और व्यापक हो। जिसमें भेदभाव और फूटवाद की दुर्भाग्यपूर्ण बातें न हो। जो आमतौर पर हिन्दू–मुसलमान की शक्ल में हर जगह उठायी जाती हैं। जिसमें देश के हर भाग के पत्र और पत्रकार शामिल हों। फिर एक केन्द्रीय कार्यालय हो और उसकी शाखाएं तमाम प्रांतों में कायम हों। वह ऑल इंडिया के रूप में भी हो और प्रांतों के परिषद् के रूप में भी।''[55]

मौलाना आजाद दूरदर्शी पत्रकार थे। वे वर्तमान की चुनौतियों को भी जानते तथा भविष्य के खतरों और आवेगों को भी। दुनिया में तेजी से घट रहे घटनाचक्र पर एक सजग पत्रकार की तरह उनकी पैनी नजर थी। तभी तो उन्होंने लिखा की 20वीं सदी के बाद कोई देश गुलाम नहीं रहेगा। उनकी यह भविष्यवाणी सही निकली। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवादी शक्तियों का अंत हो गया और करीब सभी देश गुलामी की जंजीर को तोड़ कर आजाद हो गये। श्रीलंका, इजराइल, इंडोनेशिया, नामीबिया आदि देश यूरोप की साम्राज्यवादी नीतियों से आजाद हो गये।

मौलाना आजाद सांप्रदायिक विभाजन पर भारत की आजादी नहीं चाहते थे। उनके अंदर विद्यमान एक पत्रकार इससे होने वाले भविष्य के खतरे को जानता था। वे प्रायः कहा करते थे कि पाकिस्तान का गठन न केवन भारत के लिए, बल्कि मुसलमानों के लिए ही अधिक हानिकर होगा। इससे जितनी समस्याओं का समाधान नहीं होगा, उससे अधिक

ISSN 2349-4905

पैदा होंगी। इससे मुसलमानों का हित नहीं होगा और न ही उनकी शंका और संदेह का समाधान होगा।[56] इसका परिणाम 1947 के बाद से लेकर आज तक भारत और पाकिस्तान दोनों भुगत रहे हैं।

मौलाना आजाद निर्लोभी और अक्खड़ पत्रकार थे। उन्हें धन–दौलत का मोह नहीं था। उन्होंने 'अल हिलाल' का प्रकाशन शुरू किया तो एक रियासत के मालिक ने कुछ राशि का चेक उन्हें भेजा और लिखा कि एक साल तक इतनी ही राशि वे भेजते रहेंगे। इसके बाद भी पत्र अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाया तो यह सिलसिला जारी रहेगा। मौलाना आजाद ने धन्यवाद के साथ यह चेक लौटाते हुए लिखा–

''हमने जितने कार्य अपने जिम्मे लिये हैं, वह रुपये के बल, जनता की प्रशंसा और जाति के धनी लोगों के दान के भरोसे पर नहीं, बल्कि केवल उसकी दया और दान के भरोसे, जो अपनी चौखट पर सहायता मांगने वालों की एक बार विनती जब सुन लेता है तो दूसरों के दरवाजे पर कभी नहीं भेजता। हम इस बाजार में लाभ के लिए नहीं, हानि की खोज में आये हैं। प्रशंसा के नहीं, घृणा के इच्छुक हैं। सुख के फूल नहीं, बल्कि दुःख और व्याकुलता के शूल ढूंढते हैं, संसार के धन–दौलत का बलिदान करने नहीं, बल्कि स्वयं अपने आप को बलिदान करने आये हैं। ऐसों की सहायता करके आपका मन क्या खुश होगा!'' उन्होंने आगे लिखा – ''फिर यह नहीं मालूम कि आपकी यह भेंट किस कारणवश है। यदि आप मुझे खरीदना चाहते हैं तो यह राशि बहुत अधिक है। मैं तो अपने मूल्य के बदले घास की एक टोकरी भी महंगी समझता हूँ। हाँ, यदि इससे मेरे विचार एवं मेरा विवेक खरीदना है तो मेरा आदरपूर्वक कहना है कि इन चांदी के टुकड़ों का तो मूल्य क्या है, कोहिनूर एवं तख्त–ए–ताउस का धन भी जमा कर लीजिए तथा अपनी पूरी रियासत को भी साथ मिला लीजिए, तो भी वह उसके मूल्य के सामने तुच्छ है। विश्वास कीजिए कि इसे तो केवल सम्राटों का सम्राट् भगवान ही खरीद सकता है और वह एक बार खरीद चुका है।''[57]

निष्कर्ष

मौलाना आजाद की पत्रकारिता वर्तमान पत्रकारिता की तरह पूंजीपतियों के हाथ की न तो कठपुतली थी और न ही वे मुनाफा कमाने वाले व्यवसायी पत्रकार ही थे, जिसमें आदर्शवाद की गुंजाईश न हो। पत्रकार मौलाना आजाद वेतनभोगी श्रमजीवी परजीवी भी नहीं थे। वे समाज के हितों के प्रहरी, जनता के शिक्षक–उपदेशक तथा लोक मत और लोक जागरण के निर्माता पत्रकार थे। आंग्ल पराधीन भारत में मौलाना आजाद की पत्रकारिता का मूल लक्ष्य था– नवजागरण। इसकी मूल चेतना थी सुसुप्त जनमानस में नवस्फूर्त चेतना का संचार और राष्ट्र–ज्ञान–भाव–संवेदन का स्फूरण। उनके नवजागरण का तात्पर्य था राष्ट्रीय अस्तित्व की एकता तथा साम्राज्यवाद विरोधी चेतना या भावना उत्पन्न करना। इसके लिए वे सजा भी भुगते और नजरबंद भी रहे, किन्तु अपने पथ से डिगे नहीं। उनकी पत्रकारिता एकता, बंधुता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र की स्थापना करना चाहती थी। उन्हीं का एक शेर के साथ यह लेख समाप्त किया जा सकता हैः

''खुश रहा, जब तलक रहा जीता,
मीर मालूम था, वह कलंदर था।''

संदर्भ

1. प्रवीण दीक्षित (1980), *जनमाध्यम और पत्रकारिता*, कानपुर, प्रकाशन, पृ. 13
2. अर्जुन तिवारी (तिथिविहीन), *स्वतंत्रता आंदोलन*

ISSN 2349-4905

और हिन्दी पत्रकारिता, प्राक्कथन, वाराणसी, पृ. 13

3. बच्चन सिंह (1980), बच्चन, हिन्दी पत्रकारिता के नये प्रतिमान, वाराणसी, पृ. 1
4. वेद प्रताप वैदिक (1976), *हिन्दी पत्रकारिता के विविध आयाम*, नयी दिल्ली, पृ. 762
5. विशाल भारत, मई 1932, पृ. 583
6. बी.एन. अहूजा (1987) *थियोरि एण्ड प्रैक्टिसिस ऑफ द जर्नलिज़म*, पृ. 4–5
7. अर्श मलसियानी (1994), (अनु–रिफअत सरोश), *मौलाना अबुल कलाम आजाद*, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, पृ. 111
8. मंगला अनुजा (1996), *भारतीय पत्रकारिता : नींव के पत्थर*, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ. 257
9. आजाद, अबुल कलाम (1968), (संपा.– मालिकराम), *ऐलाने हक*, (त्रैमासिक पत्र), दिल्ली, भाग–2, पृ. 3
10. *अर्श मलसियानी*, (1994), पृ. 84
11. ए.डी. रेनकोट, *द सोल ऑफ इण्डिया*, लंदन, पृ. 227
12. मौलाना अबुल कलाम आज़ाद (1959), *इण्डिया विन्स फ्रीडम*, ऑरियंट लौंगमैन, दिल्ली, पृ. 7
13. मंगला अनुजा (1996), पृ. 258
14. वही
15. विल्फ्रैड कैंटवेल (1943), *मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया : अ सोशल एनाल्सिस*, लाहौर, पृ. 226
16. अल्दुल कवी दस्नवी (2009), (अनु.–जानकी प्रसाद शर्मा), *अबुल कलाम आजाद*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 2009, पृ. 29
17. अल हिलाल, 17 जून 1914, 1 जुलाई 1914, 22 जुलाई 1914
18. दस्नवी, अल्दुल कवी (2009), (अनु.–जानकी प्रसाद शर्मा), वही, पृ. 10
19. मौलाना अबुल कलाम आजाद (1959), पृ. 7
20. मलसियानी, अर्श (1994), (अनु. रिफअत सरोश), पृ. 18
21. जयंती नटराजन (2002), *भारतीय पत्रकारिता का इतिहास*, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, पृ. 275
22. वही पृ. 276
23. शान मोहम्मद (1978), *अलीगढ़ मूवमेंट : बेसिक डॉक्यूमेंट*, मेरठ, पृ. 16–21
24. अल–हिलाल, 18 दिसंबर 1912
25. शांतिमोनी रॉय (1970), *रोल ऑफ इण्डियन मुस्लिमस इन दी फ्रीडम मूवमेंट*, नई दिल्ली
26. ब्रजेश वर्मा एवं राजेश वर्मा (1989), *राष्ट्रवादी मुसलमान (1885–1934)*, सर्जना प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 88–89
27. ताराचंद, भारतीय *स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*, (खंड तीन), प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, पृ. 277
28. पट्टाभि सीतारम्मैया, (1996), *हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस*, खंड–एक, पृ. 46
29. मंगला अनुजा, वही, पृ. 258
30. मलसियानी, अर्श, (अनु.–रिफअत सरोश), वही, पृ. 16–17
31. वही, पृ. 17
32. जयंती नटराजन (2002), पूर्वोक्त, पृ. 276
33. राम मालिक (सं0), *खुत्बाते आजाद*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1974, पृ. 51
34. ताराचंद, खंड तीन, पृ0–278
35. राम मालिक (1959), खुत्बाते आजाद, वही, पृ.

ISSN 2349-4905

205 तथा जैदी, अली जवाद (सं0), अनवारे अबुल कलाम, सकाफती सब कमेटी, श्रीनगर, से उद्धृत
36. ताराचंद, खंड तीन, पृ. 433
37. वही, पृ. 269
38. मौलाना अबुल कलाम आजाद (1959), पूर्वोक्त, पृ. 8
39. अल्दुल कवी दस्नवी, (अनु0–जानकी प्रसाद शर्मा), वही, पृ. 83
40. डी.पी. सिन्हा (1993), *लाइफ एण्ड टाइम ऑफ मौलाना अबुल कलाम आज़ाद*, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पटना, पृ. 415
41. मंगला अनुजा, वही, पृ. 259–60
42. मौलाना अबुल कलाम आजाद (1959), वही, पृ. 8
43. मंगला अनुजा, वही, पृ. 60
44. अल्दुल कवी दस्नवी, (अनु0–जानकी प्रसाद शर्मा), वही, पृ. 84
45. डी.पी. सिन्हा (1993), वही, पृ. 409
46. अर्श मलसियानी, वही, पृ. 21
47. पैगाम (साप्ताहिक), कलकत्ता, 1921, खंड 1, अंक 1, पृ. 3, कॉलम 2
48. वही, 7 नवंबर 1921, मुख पृ. पर प्रकाशित।
49. वही, जिल्द 1, अंक 13, 14, दिसंबर 1921, पृ. 4
50. जवाहरलाल नेहरू (1987), *द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, पृ. 347–48
51. अल्दुल कवी दस्नवी, (अनु0–जानकी प्रसाद शर्मा), वही, पृ. 49
52. वही, पृ. 51
53. मौलाना अबुल कलाम आजाद (1959), वही, पृ. 26–27
54. वही, पृ. 29–30
55. मजलिस दफा मताबा व जराइद हिन्द : अल हिलाल, 08 अक्टूबर, 1913
56. ताराचंद, *भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*, खंड तीन, पृ. 287
57. *आजकल*, (1958), प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, अगस्त पृ. 76

ISSN 2349-4905

भवाई: गुजराती परंपरागत लोकनाट्य

डॉ. हरीश मेहता

भूमिका

भवाई के लिए 'लोकनाट्य' या 'ग्रामनाट्य' शब्द का प्रयोग तर्कपूर्ण और उचित है। ऐसा इसलिए है कि यह प्रायः ग्राम्य क्षेत्रों में खेला जाता है। नगरों में ये वेश समानांतर रूप से प्रजा के आकर्षण का केंद्र नहीं बन सके हैं। कालान्तर में पद्यबध संवादों के साथ गद्य–कथन की प्रवृति बढ़ी और भवाई में कथोपकथन आदि का भी समावेश होता गया। उसमे ग्राम–प्रजा की जातिगत विशेषता, संवेदना, विचार, उच्चार आदि का भी प्रवेश हुआ जिससे नगर से दूर रहकर भी स्वरुप का सहज उतरोत्तर विकास होता गया।

गीत, नृत्य, संगीत, संवाद, अभिनय, चाचर आदि रंगतत्वों का समावेश भवाई में जिस वर्तमान रूप में देखा जाता है वह भी ग्राम–प्रदेश की सुदीर्घ परम्परा का ही परिणाम है। नगरजनों के द्वारा भवाई देखने का उद्देश्य भी इसी परम्परा का मोह है। कुछ कड़ियाँ ऐसी भी है जो भवाई ने नगरों से उधार ली है।

भवाया-उद्भव

तुगलक–सता के उद्भवकाल में उत्तर गुजरात के सिद्धपुर नामक नगर में असाईत का जन्म हुआ था। इसका जीवनकाल सन 1320 ई. सन 1370 ई. तक का माना जा सकता है। असाईत ने वेश खेलने की प्रचलित परम्परा को परिष्कृत करके उसे अधिक लोकप्रिय बनाया। वह माता का उपासक, गायक, विद्वान, कथाकार और नृत्यकला में निपुण था। कथा ऐसी है कि एक बार एक कणबी जाति की हिंदू कुमारिका को मुसलमान–विधर्मी–के अत्याचार से मुक्त करने के लिए उसने उसी कुमारिका के साथ एक थाली में भोजन किया। इसके फलस्वरूप उसकी जातिवालों ने उसे धर्मभ्रष्ट घोषित कर जाति से बहिष्कृत कर दिया। उसके पश्चात कणबी जाति के लोगों ने उसे वंश परम्परागत जमीन दी। तीन भाइयों के अपने परिवार समेत वह ऊंजा नामक नगर में जा बसा और 'तरगाला' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। असाईत ने कथा–कथन के स्वरुप को लोकनाट्य भवाई के रूप में विकसित किया तथा उसे धार्मिक चोला पहनाकर देवी–उपासना के रूप में प्रस्तुत किया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि असाईत ने तीन सौ साठ वेशों की रचना की थी।

श्री हरिवल्लभ भायानी के अनुसार 'भवाई' शब्द का अर्थ सजधज या शोभा–सजावट हो सकता है। भवाई के स्वरुप को देखकर ऐसी धारणा की जा सकती है कि इसका हमारी नृत्यप्रधान उपरूपक परम्परा से सम्बन्ध रहा होगा और समाज के साधारण कोटि के लोगो के लिए रचे जाने वाले रूपकों से पहेले ऐसे उपरूपकों का विकास हुआ होगा।

भवाई में भावन शब्द का अनेक बार प्रयोग देखा जा सकता है। जो व्यक्ति 'भावन' खेलता है वह 'भावक' कहलाता है। उसी प्रकार भवाई खेलने वाले को 'भवैया' कहते हैं।

ISSN 2349-4905

भवाई का साहित्य

हमारे सभी प्रादेशिक लोकनाट्यों में सामान्य रूप से धार्मिक तथा पौराणिक कथा–प्रसंगों को प्रस्तुत किया जाता है जबकि भवाई वेशों का कथानक धार्मिक या पौराणिक होने के उपरांत सामाजिक एवं ऐतिहासिक भी हो सकते हैं यह उसकी विशेषता है।

भवाई के संवादों की रचना चाचर में ही रोजमर्रा की भाषा में कर दी जाती है। भवाई के कलाकार स्वयं ही संवादों को इस प्रकार रच लेते हैं कि प्रसंग और वातावरण के अतिरिक्त वेश–सर्जन में कलाकारों के साथ–साथ दर्शकों की साझेदारी का भी बोध होता है।

भवाई का पेडू (मंडल)

भवाई का पेडू अर्थात मंडल अपने निश्चित नियमों से बंधा होता है। इसमे कम से कम नौ व्यक्तियों का समावेश किया जाता है। साथ ही इसकी संख्या बीस से अधिक न हो इसका भी ध्यान रखा जाता है। भवाई के मंडल में 'कांचलिया' अर्थात स्त्री–पात्रों का अभिनय करने वाले पुरुष–कलाकारों की संख्या जितनी अधिक हो, उतनी ही उस मंडल को अधिक प्रतिष्ठा मिलती है।

भवाई का मंडल प्रतिवर्ष सात–आठ महीनों तक भवाई खेलता है। कई मंडल ऐसे भी है जो केवल नवरात्रि में ही भवाई खेलते हैं। भवाई खेलने का प्रमुख उद्देश्य माता (अम्बा) की उपासना का है। कोई भी मंडल वर्ष में पहली बार जब भवाई खेलने को निकलता है तो प्रस्थान से पहले वह शुभ मुहूर्त में माता या शंकर के मंदिर के समक्ष मुजरा करने के बाद ही प्रस्थान करता है।

मंडल का मुखिया या मुख्य नायक 'वेशगोर' कहलाता है। वह अपने सर्वाधिक विश्वसनीय व्यक्ति–भाई, भतीजा या पुत्र को व्यवस्थापक के रूप में नियुक्त करता है। मंडल में पुरुष–भूमिका करने वाले छः से सात मुछैल होते हैं और मुख्य नायक के अतिरिक्त इसमें उपनायक, प्रतिनायक रंगातारों (प्रश्न पूछने वाला) आदि का भी समावेश होता है। स्त्री की भूमिका करनेवाला 'कांचलिया' कहलाता है। कांचलिया की संख्या छः से सात की होती है। एक भगत होता है जो समय–समय पर डागलो, विदूषक, जूठण, रंगलो, हसाउलो, नाटावो आदि की भूमिकाएं करता है। वादकों में दो भूंगल–वादक, एक उस्ताद (पेटी मास्टर), तबलची तथा दो जांज बजाने वालों का समावेश होता है।

मंडल का निवास गाँव के चौराहे, सराय या मंदिर में रहता है। भोजन का प्रबंध यजमान ही करता है। भवाई में जो पुरस्कार मिलता है उनको नियमानुसार बाँट दिया जाता है। भवाई मुख्य रूप से तरगाला जाती का व्यवसाय है। आनर्त प्रदेश का वडनगर इसका प्रमुख केन्द्र है। कालांतर में नागर ब्राह्मण तथा अन्य जातियों के लोग भी भवाई खेलने में रूचि दिखाने लगे और इन सभी ने अपने–अपने ढंग से भवाई की अभिव्यक्ति और संरचना की अलग–अलग परम्पराए स्थापित की।

अभिव्यक्ति आदि में भिन्नता

सौराष्ट्र की भवाई–मंडलियों के प्रस्तुतीकरण के ढंग में सौराष्ट्र के लायाभिनय, रीति रिवाज आदि का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उदाहारण स्वरुप, सौराष्ट्र में खेले जाने वाले 'जंडा–जुलण' के वेश की बनियाइन की वेशभूषा से अधिक मिलती–जुलती होती है जबकि विपरीत उत्तर गुजरात में वह उत्तर गुजरात की बनियाइन की वेशभूषा के अनुरूप होती है। इसी प्रकार कुंडल, मोती, मोर आदि अलंकारों पर भी अलग–अलग प्रदेशों का प्रभाव देखने को

मिलेगा। निष्कर्ष यह है कि भवाई जिस स्थान पर खेली जाती है उस स्थान की सामाजिक गतिविधियों एवं मान्यताओं का उस पर विशेष प्रभाव रहता है।

सौराष्ट्र प्रदेश में खेली जाने वाली भवाईयों में जितनी सहजता से उस प्रदेश के रास नामक नृत्य प्रकार को समाविष्ट कर लेती है उतनी ही सहजता से गुजरात के अन्य प्रदेशों में खेलने वाली मंडलिया गुजरात के विशिष्ट लोकनृत्य गरबा–गरबी को अपने खेलों में समाविष्ट कर लेती है। कच्छ प्रदेश की मंडलियों में इसी प्रकार कच्छी घोड़ी के नृत्य का समावेश हो गया है। भावनगर की मंडलियों ने वहां के हिजड़ों को भी भवाई–कलाकारों के रूप में समाविष्ट कर लिया है।

इसी प्रकार रस्सी पर नाचने वाले नट, मदारी, अंग कसरत के दाव करने वाले आदि ने भी प्रत्यक्ष रूप से भवाई में स्थान प्राप्त कर लिया है। जैसे, भावनगर के हलुरिया चौक विस्तार की या देवजी भगत की ड्योढ़ी की मंडलियां अलग–अलग जातियों के लोगो से बनी है। इसके विपरीत लीलापुर के औदीच्य ब्राह्मणों की मंडलियों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त केवल पटेल जाति के कलाकारों को ही समाविष्ट करने की प्रथा है।

जो भवाई–कलाकार श्री महाकाली, श्री महालक्ष्मी और श्री महासरस्वती इन तीनों देवियों की आराधना करने की इच्छा रखते हैं वे नौ या सात दिन तक भवाई खेलना पसंद करते हैं, परन्तु जो लोग भगवती के केवल सरस्वती स्वरुप की ही अराधना करना चाहते हैं वे केवल तीन दिन तक भवाई खेलते हैं। अम्बाजी या भावनगर जैसे स्थानों पर नौ या सात दिन तक भवाई खेली जाती है जबकि लीलापुर के औदीच्य ब्राह्मण केवल तीन दिन तक भवाई खेलकर भगवती के सरस्वती स्वरुप की ही आराधना करते हैं। लीलापुर के औदीच्य ब्राह्मणों की मान्यता है कि जब तक माता की विधिवत अगवानी न की जाए तब तक भवाई खेलना उचित नहीं है। अतः वे पहले बड़ी धूमधाम से माता की अगवानी करते हैं और आरती समाप्त होने के बाद वेदोक्त मंत्रोच्चार भी करते हैं। इस पूजाविधि में लगभग सवा घंटे का समय लगता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है की भवाई के स्वरुप के साथ इन लोगों का सम्बन्ध पूर्णतः आध्यात्मिक भूमिका पर निर्भर है।

वड़ोदरा नगर के नवापुरा नामक स्थान में रहने वाले वाघरी जाति के भवाई–कलाकारों पर कृष्णभक्ति का विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। वे उत्सव प्रारंभ करने से पहले विविध स्वांग रचते हैं और जलूस के रूप में चचर तक जाकर वहाँ कृष्ण–मूर्ति की स्थापना करते हैं। इस मंडल की और भी एक विशेषता है। इसमें 'वन्समोर' और 'कट' की प्रथा रूढ़ हो चुकी है। जिनमें दर्शकों से धन मिलता है और वेश के बीच में गायन कट होते रहते हैं। इस प्रकार की धन–प्राप्ति से मंडल का गुजारा चलता रहता है।

लीलापुर के औदिच्य ब्राह्मण किसी पर आश्रित नहीं रहते है या भवाई उनकी आजीविका का प्रमुख आधार भी नहीं है जब बहुचर माता का वेश खेला जाता है तब इस वेश के प्रत्येक गीत के समय और अभिनय के समय दर्शक माताजी के चरणों में झुकने के लिए आते हैं और इतने पैसे इकट्ठे हो जाते हैं कि मंडल को अर्थोपार्जन की चिंता नहीं रहती है।

चाचर बांधने का या चाचर पूजा की भी अलग–अलग पद्धतियां होती हैं। मोरबी प्रदेश की मंडलियों में यह कार्य गणपति के द्वारा संपन्न होता है जबकि उत्तर गुजरात में यह काम नायक करता है। लीलापुर के ब्राह्मण माताजी की अगवानी के बाद तुरंत तलवार युद्ध करते हैं। भावनगर के वडवानेरा स्थान के कोली जाति के लोग अपनी जीभ पर काट करते हैं। अहमदाबाद में 'जे' भाई नायक की मंडली में यह कार्य वादी करता है। उत्तर गुजरात के नायक

ISSN 2349-4905

और सौराष्ट्र के व्यास चाचर के मध्य गणपति–मंडल की स्थापना करते हैं। दलित आदि जातियों के भवाई–कलाकार स्थानक पर जो दीप जलाते हैं वे जोगनियों के लिए ही जलाए जाते हैं।

लक्षण

भवाई का नायक बहुधा गद्य में बोलता है, परन्तु कथा का काफी कुछ भाग गद्य के उपरांत रेखता, सवैया, कुंडलिया, दोहरा, छप्पय, सोरठा, साखी वगैरह द्वारा कहा जाता है। रामगरी, बिहाग, बिलावल आदि रागों तथा जपताल, दिपहंदी, चौताल आदि तालों का उपयोग किया जाता है। कलाकार तार सप्तक से भी ऊंचे स्वर में गाते हैं। यद्यपि पुरूष ही स्त्री पात्र निभाते हैं, फिर भी स्त्री पात्रों में वे ढ़ाल में, लहजे में गाते हैं, परन्तु पुरूष पात्रों का अभिनय करते समय छंदों का प्रयोग विशेष किया जाता है। नृत्य भी इसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है तथा इन सभी माध्यमों से वास्तविक लोकजीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है।

भवाई का स्वरुप स्वतंत्र और बंधनमुक्त होने के कारण उसमे स्वाभाविकता का गुण है। कलाकारों में भी मौलिकता का तत्व है। मूल तो यजुर्वेदी औदिच्य ब्राह्मणों की जाति में से नायक, तरगाला की एक शाखा अलग हुई, जो भवाई खेलती थी। परन्तु आज इनके अलावा कोली, गुगली ब्राह्मण, नागर, चारण, रावल, व्यास, वाघरी, पटेल, बाद में जो मुसलमान हुए वे भी और दलित तथा भरवाड के भवाई कलाकार भी भवाई खेलते पाए जाते हैं।

सौराष्ट्र के रास वगैरह ने वहा के प्रयोगों पर सीधा प्रभाव डाला है। गुजरात के सीमावर्ती प्रदेशों के प्रभाव से भी भवाई सहज रूप से प्रभावित हुई है। विभिन्न जातियों ने अपने मिजाज का प्रभाव इस कलास्वरूप पर डाला है। कोली की भवाई मंडली में कृष्ण राधा को थप्पड़ मारता है। तरगाल ऐसा नहीं करेंगे। इसी प्रकार बदलते मिजाज, उत्सव, रिवाजों इत्यादि का प्रभाव तथा जीवन जीने की पद्धति की लय का प्रतिबिम्ब भवाई और इसकी अभिव्यक्ति पर स्पष्ट तरीके से पड़ता रहा है।

इतिहास पुराण और समाज में घटती घटनाओं में से तथा लोककथाओं, दंतकथाओं और जनश्रुतियों में से वेश की कहानियां गढ़ी जाती हैं तथा कलाकारों की कल्पना की उड़ानों पर ये अभिनीत किए जाते हैं। नर्तन तथा संगीत में कला तथा वार्तालाप और भाषणों में कलाकारों की बुद्धि की झलक मिलती है। नर्तन में कथक से साम्य दिखाई पडता है, तथापि इसकी क्रियाएं, चेष्टाएं और गति सर्वथा मौलिक कही जा सकती है। शास्त्रीय नृत्यों में तो गाने वाले का अनुसरण नाचने वाला करता है जोकि हम देख सकते हैं जब की भवाई में तो पात्र खुद ही नाचता, गाता भी है तथा भावों की अभिव्यक्ति भी करता है।

वेश

वेश का मतलब है वेशभूषा, पहनावा, रूप, स्वांग। यहाँ इनका अर्थ है भवाई में रात्रि के समय अभिनीत किया जाने वाला प्रत्येक प्रसंग। छोटे बड़े वेश एक दूसरे में बुनते हुए तथा चारों ओर बैठे प्रेक्षक सुन सके इसका ध्यान रखते हुए अभिव्यक्ति में उनको शामिल करते हुए, नृत्य तथा संगीत के आकार इत्यादि बदलते हुए भवाई कलाकार पांच से सात रातों तक एक के बाद एक वेश खेलते ही जाते हैं। वेश के लेखक ने जो छोड़ दिया है वह सब भवाई कलाकार अपने तौर पर पूरा करता है। वेश में अभिव्यक्त होने वाले जीवन का विस्तारपूर्वक वर्णन वह गंभीर और सम्पूर्ण रूप से करता है। यह वर्णन, कल्पना–तरंगों तथा

ISSN 2349-4905

ज्ञान की रंगीन जानकारियों से भरपूर होता है। ऐसी जानकारियों की नींव रोजमर्रा के जीवन में ही पड़ी होती है।

नट प्रेक्षकों के बीच रहकर वेश अभिव्यक्त करते हैं, जिस वजह से शरीर के हलन–चलन में सुविधा रहती है, अंग कुंठित नहीं हो जाते तथा भावों की सीधी अभिव्यक्ति भी बनी रहती हैं। नाटक की तरह वेश में 'रिलेक्सेशन' आदि नहीं होता। चलते वेश के दौरान ही प्रेक्षकों से तम्बाकू लेकर ये लोग रिलेक्स हो जाते हैं। प्रेक्षक जब जी चाहे, वेश में क्या हो रहा है यह देखना छोड़कर चाय पीने जा सकता है। चायवाला चाचर में आ जाता है और कलाकारों को रिलेक्स करने के लिए चालू वेश में ही उन्हें चाय पिलाता रहता है।

भवाई कलाकारों के वेश में लिखे शब्द (वेश की हस्तप्रत) तनिक भी मददगार साबित नहीं होते। जो शब्द कलाकारों के लिए अड़चन कड़ी करते हैं वे अपने आप ही निकल जाते हैं। लालजी मनियार, जोगी और जोगन का वेश, नपुंसक का वेश, जंडा जूलन का वेश, जसमा ओदन, पुरबिया का वेश आदि कुछ प्रख्यात वेश हैं।

भवाई का परलक्ष यह है कि वेश, कथा वास्तु और कथावस्तु के अनुरूप अभिव्यक्त करती है।

भवाई वेशों के रचनाकार

असायित (आशाराम ठाकर) ने 360 वेश की रचना की है ऐसा माना जाता है। पर ये सम्पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि गणपति जैसे वेशों में आशाराम और भलाराम के पुत्र रामशंकर और रत्नशंकर के नामों का जिक्र किया गया हैं। इसके बाद कवी गद, गोपाल नायक, मांडण नायक, हरजीवन नायक, वगैरह का भी भवाई वेशों के सर्जन में योगदान रहा है।

भवाई के प्रकार

दो प्रकार की भवाई खेली जाती है– एक, करवठा की और दूसरी, जातर की। कई लोग माताजी के सामने मन्नत रखते हैं और वो पूरी होने पर भवाई खेलने वाले भवायों को निमंत्रण देते हैं। इस सन्दर्भ में खेली जाती भवाई को मानता की या करवाठा की भवाई कही जाती है। जिसके स्थायी कलाकार होते है, जो तीन, पांच या इससे भी अधिक रात और सुबह तक नियमानुसार खेलते हैं और नवरात्री जैसे उत्सव के समय धार्मिक स्थल पर माँ अम्बा के समक्ष भूंगल बजाकर गरबा गाकर दर्शन करके जो भवाई खेलते हैं, इसे 'जातर' की भवाई कहा जाता है।

एक और भी भवाई सौराष्ट्र–प्रदेश के 'सणोसरा' जैसे गाँवों में खेली जाती है जिसे गर्भ–भवाई कहते हैं। जिसमे दो अंकों के बीच भवाई के छोटे–छोटे वेशों का प्रयोग किया जाता है और ये वेश अगर मजाक के स्वरुप का हो तो इसे 'चाटकु' भी कहा जाता है।

भवाई के दर्शक

भवाई का खेल जहाँ खेला जाता है, उसे सामान्य रूप में चाचर कहते हैं। जलचर, भूचर, खेचर और चराचर देवियों का निवास चाचर कहलाता है। चौराहा, गाँव का चौक, माताजी का मंदिर का प्रांगन, गली–कूचों के बीच का खुला भाग– ये सभी स्थान चाचर के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

भवाई खेल की शुरूआत-पूर्वरंग

भवाई वेश को पेश करने से पहले कलाकार चौरा या पड़ाव में माँ अम्बा की छवि या मांडवी रखकर उनके सामने दीया जलाकर वाद्य बजाकर मुजरा

ISSN 2349-4905

करते हैं। बाद में गरबे भी गाए जाते हैं। उसके बाद जो विधियां होती है जिसे 'पूर्वरंग' भी कहते हैं वो इस प्रकार है–

1. गरबा पूर्ण हो जाने बाद गणेशजी का प्रवेश होता है। भूंगल बजाई जाती है, नायक प्रवेश करके ऊंची आवाज़ से गाता है–

   दून्दालो दुःख भंजनो सदाये बालेवेश
   समरता लख लाभ दिए गौरी पुत्र गणेश....

   गणपति नाचते हुए चाचर में प्रवेश करते हैं। उन्होंने सूंढ की जगह ढ़ाल लटकाई हुई है। हाथ में स्वास्तिक चिन्ह वाली थाली होती है और उससे अपने चहेरा ढँका हुआ है। नायक और गणपति संयुक्त रूप से सीधी चाल के पैर (स्टेप) लेकर नर्तन करते हैं। संगीतकार राग मारू में साखियाँ गाते हैं–

   हे...जी मारू थारे देश में निपजत तिन रतन
   इक ढोलो दूजी मलवण तिजो कसुम्बल रंग...

2. गणेशजी के बाद कालका माता का प्रवेश होता है। चाचर में तैल का सिंचन करके वह रोग–बीमारी दूर करती है।
3. बाद में ब्राह्मण का प्रवेश होता है। वह मुहूर्त देखता है और आशीर्वाद देता है।
4. अंत में विदूषक आता है। वह भी रोग–बीमारी समुद्र में डालता है। बाद में विदूषक प्ररोचना करता है और कथा वस्तु का वर्णन करता है। इस प्रकार भवाई प्रयोग शुरू करने से पहले पेश किए जाने वाले भवाई वेश या वेशों के प्रति दर्शकों का रस जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। उपर्युक्त चारों पात्र स्वतंत्र वेश में आते हैं। उसमें दो वेशों का मिश्रण भी होता है।

पूर्वरंग के बाद

पूर्वरंग के बाद रात भर चलने वाली भवाई में दो या तीन या इन से भी अधिक वेश होते हैं। नायक आता है, उसके साथ पांच–छः कांचलिया (अर्थात स्त्री के पहनावे में आने वाला पुरूष, जो कांचली, कंचुकी, चोली अर्थात ब्रेशियर्स में कपड़ा या रुई का गोला भरकर उस पर ब्लाउज और अपने पात्र अनुसार कपड़ा पहनता है) भी आते हैं और आज के प्रमुख वेश को जाहिर करने की क्रिया करते हैं। तदुपरांत भवाई और वेश की संक्षेप में जानकारी देते हैं। एक के बाद दूसर वेश खेला जाता है। इन सब वेशों में जो राजपूत का वेश है। उसमें रंगला आता है। पूर्वरंग का डागला बाद के वेशों में रंगला बन जाता है। आधुनिक भवाई के वेशों ने और रेडियो, टी.वी., द्वारा प्रसारित भावाई ने तो रंगोली का पात्र भी स्वीकार कर लिया है। इस रंगली का पात्र अर्वाचीन भवाई स्वरुप का है। यह पात्र परम्परागत भवाई के खेल में नहीं होता।

"रंगला अश्लील हरकते करता है।" ऐसा कहकर कई लोगों ने उसे बदनाम भी किया है। किन्तु कीथ विदूषक की उत्पति सोमयाग की महाव्रत नाम के प्राचीन धर्मविधि से बताते हैं जिस विधि में भद्दा संवाद होता है। खुद प्लूटो ने भी कहा है कि विनोदी–पात्र कुरूप होना चाहिए।

पूर्वरंग के बाद के वेशों का परिचय

अब हम पूर्वरंग के बाद के कुछ सूचित वेश देखें। इन वेशों की पसंदगी करने के पीछे रहे हुए जो दृष्टि बिंदु तथा महत्व के तत्व ध्यान में रखे गए हैं, वे इस प्रकार है–

1. भवाई में वेश कथावस्तु के अनुरूप अभिव्यक्त होता है। जैसे की जंडा–जूलन में तेजा प्रेम

 ISSN 2349-4905

क्यों करने लगी और बाद में प्रेम करना क्यों छोड़ दिया, यह दर्शाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। वृद्ध बनिया के प्रति तेजा की नफरत, बनिए की लोभिवृति आदि दर्शाने के लिए प्रभावपूर्ण गीत भी गाये जाते हैं।

2. चाचर में ग्राम्य तूफानों का भी नट ठीक–ठीक समावेश कर लेते हैं।
3. "जोगी–जोगन" जैसे वेश में जोगी–जोगन जैसे लोगों की स्थिति–रीति का ख़याल भी आ जाता है। परम्परागत भवाई में संस्कृत नाटकों के अलावा कई लोकप्रिय ग्राम्य नाटकों की तरह अपनी मौलिक पद्धति समझने के लिए भी इस प्रकार के वेशों का अभ्यास जरूरी है। नाटक में जिस प्रकार कवि क्रिया का छंद–संवाद, लय–संवाद, दिग्दर्शक ढूँढता है उन्हें ग्रहण करके नटों द्वारा वह प्रकट करता है। ये मूलभूत तत्व, बुनियाद, भवाई के वेशों में निहित है।
4. व्यावसायिक व्यक्तियों की, उनकी और उनके समाज की मनोदशा उनकी संस्कृति आदि भवाई में किस प्रकार से अभिव्यक्ति होती है, यह दर्शाने के लिए "लालजी मणियार" के वेश का परिचय कराया है।
5. "जसमा–ओड़न" एक ऐसा वेश है जिसमें भवाई कलाकारों ने भवाई प्रस्तुतीकरण की शैली में कई नये तत्वों का समावेश किया है।
6. "ढेड का वेश", "दरजी का वेश", "पुरबिया का वेश" आदि भवाई में हास्य रसिक प्रसंग किस प्रकार से लिए जाते हैं उसे समझने के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।
7. भवाई में कुछ वेश बहुत ही विस्तृत है। उदाहरण स्वरुप रामदेव का वेश साढ़े तीन रात चलता है।
8. समाज के धार्मिक चमत्कारचुम्बी मानस की छवि भवाई के "पताई रावल", "बहुचर माता", "मढ़ी" और "पावैये का वेश" जैसे वेशों में बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।
9. भवाई के वेश अलग अलग जगह पर अलग अलग नामों से प्रचलित है। जैसे कि जंडा–जूलन का वेश अम्बाजी आरासुर में बनिया के नाम से, धारवाड़, भावनगर, महेसाणा, आदि स्थल पर जंडा–जूलन के नाम से तथा नागर कौम में तेजा मोदी तथा मोदन के नाम से प्रसिद्ध है।

वेश दुखान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के होते हैं। मगर वेश शोकान्त होने पर भी हर बार उसका स्थायी–भाव शोक ही हो–यह जरूरी नहीं। इस सब के होने का मुख्य कारण यह है की वेश कलाकारों का उद्देश्य सामाजिकों के हृदय को सहानुभूतिपूर्ण बनाना होता है और इसके लिए वे मानव–स्वभाव में स्थित किसी न किसी गुण या उद्देश्य को पात्रों के स्वभाव में स्थापित करते हैं। इस प्रयास में कभी–कभी ऐसा भी होता है की इसका बहुत विस्तार भी हो जाता है।

तालीम देने की पद्धति

भवाई में कोई दिग्दर्शक नहीं होता, और ढंग की रिहर्सल भी नहीं की जाती। भवाई मंडली का नायक पहले से ही कलाकारों में काम का विभाजन कर लेता है। नाटक की तरह प्रशिक्षा भी नहीं दी जाती। पर जिस तरह बच्चा बोलना सीखता है उसी तरह भवाई कलाकारों के बच्चे यह कला सीखते हैं। जिस तरह माँ बालक को बोलना सिखाती है उसी तरह बड़ा कलाकार छोटे कलाकारों को भवाई खेलना सिखाता है। भवाई–कलाकारों के समूह में नया भर्ती हुआ लड़का भी थोड़े समय में ही कुशल अभिनेताओं जैसा ही पात्र अभिनय कर लेता है। भावनगर का शक्ति–मंडल या हलुरिया–चौक की मंडली जैसी मंडलिया प्रशिक्षण विधि की तरह से भी उसे स्वीकार

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

ISSN 2349-4905

करती है। अधिकाँश लोक–स्वरूपों के प्रायोगिक नियमों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये कला–स्वरुप विशेष दक्षता की अपेक्षा रखते हैं।

वेशभूषा और रंगभूषा

भवाई में निर्धन एवं सामान्य जनता काम करती है। इसलिए कीमती नहीं वरन् सादे वस्त्र जैसे कि देवी भी हाथ की अँगुली में सादा वेढ पहनेगी और पैर के गहने भी गाँव की सामान्य महिला जैसे ही होंगे, पर उनकी अलौकिकता त्रिशूल, कुमकुम तथा दांतों में पकड़ी तलवार से प्रकट होगा। गणेशजी को सुन्दर मुकुटवाला, सूंडवाला तथा बहुमूल्य आभूषणों वाला कहा गया है पर भवाई–मंडली तो कलाकार के सर पर वस्त्र डालकर, हाथ में स्वास्तिक का चिन्ह वाली थाली देकर अतिशय महंगे परिधान से बचेगी।

भवाई कलाकार साधारणतः मंडप के चौक में अपनी मंचीय वेशभूषा में ही प्रवेश करेगा। फीकी चमक वाला बोदार नमक एक पदार्थ जो गुलाबी रंग का होता है और त्वचा को आकर्षित बनाता है, भवाई कलाकार के मेक–अप का महत्त्वपूर्ण साधन है। इसमें थोड़ा गुलाल मिलाने से खिलता गुलाबी रंग मिल जाता है जो नारी पात्र का मेक–अप है। स्त्री–पात्र बोदार में गुलाब मिलाकर लाली भी तैयार करती हैं। होंठ रंगने, बिंदी लगाने तथा हाथ–पैर की गदेलिया रंगने में सिंदूर का प्रयोग होता है। पात्र का बुढ़ापा बताने के लिए शंख चूर्ण की रेखाएं भी खींची जाती हैं। उसका उपयोग बूढ़ों के बाल–मूंछ बनाने में भी होता है। प्रतिनायक के लिए या विदूषक जैसे पात्र को हास्यास्पद बनाने के लिए काजल भवाई कला के लिए बहुत ही उपयोगी रहा है। आज–कल आधुनिकता से प्रभावित मंडली मेक–अप किट का भी इस्तेमाल करती है। मेक–अप साफ़ करने के लिए तेल का इस्तेमाल होता है। अभिनेता विग का इस्तेमाल करते हैं। साधु जैसे पात्र जटा भी लगाते हैं। रंगभूषा अभिनेता स्वयं करता है।

प्रकाश व्यवस्था

आज कल गाँव में बिजली आ गयी है। फिर भी परम्परागत रीति के अनुसार मंडलियों में मशाल का इस्तेमाल किया जाता है।

भवाई में संगीत व्यवस्था-वाद्य यंत्र

भवाई का संगीत मुक्त रहा है। फिर भी भवाई में ध्वनि व्यवस्था तथा रसोत्पत्ति के लिए भूंगल महत्त्वपूर्ण वाद्य–यंत्र है। इसके बिना भवाई का प्रदर्शन संभव नहीं। नृत्य एवं गीत को यह प्रभावी बनाता है। लय और ताल की अभिव्यक्ति में यह सहायक है। वेश की अभिव्यक्ति के लिए काम में लाए जाने वाले अन्य वाद्य–यत्रों में भी समय–समय पर परिवर्तन होता रहता है। भवाई में वैसे तो तबला, जांज और भुंगल के अतिरिक्त अन्य वाद्यों का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार किया जाता है। जैसे कि, पखावज, हारमोनियम, ढोलक, नगाड़ा, शहनाई वगैरह।

भवाई का संगीत मुक्त होने के कारण शास्त्रीय संगीत से अलग पड़ जाता है। रूढ़िबद्ध नियमों से मुक्त होते हुए भी भवाई कला में अमुक राग–विशेष को अमुक ताल–विशेष में ही गाने की परम्परा प्रचलित है।

भवाई एक नर्तन प्रधान लोकनाट्य

वैसे तो भवाई का स्वरुप यजमान–वृति पर होने के कारन इसमें हालरडा इत्यादि मंगल प्रसंगों में गाने की वजह से इसमें नृत तत्व का समुचित

ISSN 2349-4905

विकास हुआ है, और ज्यादातर इसका सम्पूर्ण स्वरुप उस कला के बिलकुल समीप सा लगता है जिसे दशरूपककार ने नृतकला की संज्ञा दी है। फिर भी कई बार अपने अनुभव एवं कला मर्मज्ञता के कारन अनेक कुशल कलाकार इसका विकास कर इसे रूपक या उपरूपक के समीप ले आते हैं।

भवाई कलाकार जिस प्रकार अलग–अलग जातियों के लोगों को देखकर उनकी तरह बोलना सीख लेते हैं, उसी तरह किस प्रकार नर्तन किया जाए या चला जाए, यह भी सीख लेते हैं। भवाई कलाकार अधिकतर नृत्य में ठेका के साथ गतिक्रिया करने के अभ्यस्त होते हैं। इतना ही नहीं, इस तरह की गतिक्रिया के बिना ठेका नर्तन के एक भाग की तरह भी आता है। हमने देखा कि नाट्य जैसे अर्थ में यहाँ नर्तन का प्रयोग होता है। पर नृत, नृत्य और नाट्य जैसे नर्तन के तीनों प्रकारों के लिए भवाई में जो समान नाम मिलता है, उस अर्थ में भवाई नर्तन–प्रधान लोक–नाट्य है।

तुलनात्मक अध्ययन

भवाई के स्वरुप को समजने के लिए भारत के अन्य लोकनाट्य के साथ उसका तुलनात्मक अभ्यास भी निश्चित रूप से ही उपकारक होगा।

महाराष्ट्र में तमाशा, वासुदेव और दशावतार बहुत ही प्रसिद्ध लोकनाट्य है। तमाशा का प्रारंभ भी भवाई की तरह ही गणेश स्तुति से होता है। कथा के पहले पूर्वरंग और नर्तन का मुजरा होता है और उसमे सिर्फ पुरुष कलाकार ही भाग लते हैं।

'वासुदेव', भवाई की अपेक्षा ऊंची श्रेणी का है और सम्पूर्णतया विधिनाट्य है। उसका प्रारम्भ प्रभु स्तवन से ही होता है। स्त्री का पात्र लेने वाले पुरूष को स्त्री वेश भी धारण करना जरूरी नहीं माना जाता। पुरूष के वेश में ही वह संवाद बोलता है। प्रेक्षक को भी यह स्वीकार्य है। इसकी विशेषता यह है कि पात्र स्वयं ही वाद्य बजाते– बजाते अपना रोल अदा करते हैं। भवाई की तरह ही लोग कलाकार के यजमान होते हैं।

दशावतार में चारों दिशाओं के देवों को आह्वान दिया जाता है। पूर्वरंग में गणपति रिद्धि–सिद्धि के साथ आते हैं। गणपति महोरा पहनते हैं। बाद में ब्राह्मण आता है और मुहूर्त निकालता हैं। भवाई के बहुत ही नजदीक इसका स्वरूप है जिसमें भवाई के जैसे ही मेक–अप के साधन उपयोग में लिए जाते हैं। इसमें निरंतर नृत्य–गीत चलता रहता है, आहार्य चकाचौंध कर देने वाला है और पात्र विष्णु के दश अवतारों को केन्द्र में रखकर स्वयं स्फुरणा से संवाद बोलते हैं।

"माच" मध्यप्रदेश का लोकनाट्य है। यह एक अलग व्यवसाय है जब कि भवाई तो धार्मिक अनुष्टान के रूप में खेला जाता है। फिर भी इन दोनों में साम्यता यह है कि दोनों का प्रारम्भ देव की स्थापना से ही होता है। दोनों में पुरूष कलाकार ही भाग लेते हैं। पुरूष ही स्त्री पात्र में आते हैं और स्त्री वेश पहनते हैं।

वाराणसी और उसके आसपास की कौमों में भी 'नौटंकी' सिर्फ पुरूष कलाकारों के द्वारा ही खेली जाती है। उसमें देवों की आराधना तो होती है किन्तु वह सिर्फ मनोरंजन के माध्यम के रूप में। उसके कलाकारों के कोई यजमान नहीं होते अतः, वे अन्य व्यवसाय करके आमदानी पाते हैं।

'यक्षगान' वह कर्नाटक का लोकनाट्य है। उसमें भी गणपति की स्तुति है। उसमे मेक–अप के लिए स्थानिक पदार्थ ही उपयोग में लिए जाते है, फिर भी दर्शक की नजर में वह बस जाता है। वेशभूषा भी चकाचौंध कर देने वाली होती है। भवाई की तरह प्रेक्षकों के साथ सध जाने वाली एकरूपता इसके ध्यानाकर्षक विशेषता है।

ISSN 2349-4905

यहाँ एक बात ध्यान में लेना अनिवार्य है कि अन्य प्रादेशिक लोकनाट्य ज्यादातर धार्मिक, पौराणिक कथा–घटनाओं पर ही आधारित है जबकि भवाई वेश का कथानक इसके अलावा सामाजिक और ऐतिहासिक भी होता है।

मध्ययुगीन पश्चिम भारत में विशेषकर गुजरात–सौराष्ट्र में भवाई का नाट्यप्रकार जन शिक्षा का प्रभावशाली माध्यम रहा है। असाईत ने सामाजिक परिवेश का सूक्ष्म अध्ययन करके भवाई के वेशों की रचना की। इन वेशों की अभिव्यक्ति से समाज में प्रचलित रूढ़ियों, बंधनों, वहमों और कुरिवाजों पर करारा व्यंग भी किया गया जो समाज सुधार में सहायक सिद्ध हुआ।

भवाई के माध्यम का प्रभाव जनमानस पर लगभग चार सौ वर्षों तक बना रहा। उस समय भवाई को अदभुत लोकाश्रय प्राप्त था। लोग भवाई वेश प्रस्तुत करने वाले नायकों की मंडलियों की उत्सुकता से राह देखते थे और पूरे आदर–सम्मान के साथ प्रत्येक गाँव में उनकी अगवानी होती थी। गायन, वादन और नृत्य कला में निपुण इन गायकों का तत्कालीन जन जीवन पर अमिट प्रभाव था। एक ओर पश्चिम के प्रभाव से नाटक का, रंगभूमि का विकास होने पर तथा दूसरी और भवाई के कलाकारों का अभिनय कौशल क्षीण हो जाने पर भवाई का सामाजिक एवं शैक्षणिक महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता गया तथा 'भवाई' शब्द भी अरुचिकर बन गया। जन–शिक्षा के इस प्रभावशाली माध्यम को इस स्थिति में से बाहर निकालकर पुनः जनादर के योग्य बनाने की आवश्यकता है। नए युग के सन्दर्भ में इसमें विकास तथा परिवर्तन हो यह बहुत जरूरी है।

संदर्भ

1. *असाइत वंशवेली*, पैजा अमृतलाल जेवर भाई, प्रकाशक एवं लेखक, राजकोट
2. भानुभाई नायक, *"आपणु लोकनाट्यः भवाई"*, ज्ञान–कौशल प्रकाशन, अहमदाबाद, 1967
3. महेता मृदुला, *गुजरात ना उत्सवों अने मेलाओ*, एच., प्रका. गुजरात यूनिवर्सिटी
4. शाह पुरुषोत्तम, *गुजराती नाटक अने देशी भवाई*, प्रकाशक लेखक, भावनगर
5. प्रोजैश बनर्जी, *द फोक डांस ऑफ इण्डिया* किताबीस्तान, इलाहाबाद, 1959
6. शक्ति मंडल , भावनगर के प्रयोग, स्थल देवजी भगत की धर्मशाला
7. शास्त्री केशवराम काशीराम, हंसाउली, असाईतः गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, अहमदाबाद, 1985

ISSN 2349-4905

तकनीकी और मानव-मन

धीरेन्द्र प्रताप सिंह

पौराणिक यक्ष–युधिष्ठिर संवाद का यह प्रश्न हैः कि 'हवा से भी तेज चलने वाला क्या है'? तो युधिष्ठिर का जवाब था 'मन'। इसलिए कि मन ही किसी भी तरह के विचारों का केंद्र बिन्दु होता है। इसीलिए जब सेब जमीन पर गिरा तो न्यूटन के मन ही में पहले यह विचार आया कि यह सेब नीचे ही क्यों गिरा? इसी विचार का परिणाम था गुरूत्वाकर्षण बल की खोज। इस तरह के और भी कई उदाहरण मौजूद हैं। दरअसल इस दुनिया में जितने भी आविष्कार हुए हैं, वह सब मानव मन की ही उपज है। चाहे आज भले ही यह कोई कहे कि मन से भी तेज इंटरनेट या अन्य संचार माध्यम चलते हैं, लेकिन इंटरनेट या अन्य संचार माध्यमों तक पहुँचने की प्रक्रिया मन से ही होकर गुजरती है।

आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दूँ कि तकनीकी मानव मन की उपज है, न कि तकनीकी से मानव मन जन्मा है। हाँ, यह जरूर है कि तकनीक मानव मन को प्रभावित तो करती है, लेकिन वह मानव मन जैसा न तो स्वतंत्र मौलिक चिंतन कर सकती है, और न ही कल्पनाओं के सागर में गोता लगा सकती है। तकनीक से मानव द्वारा संपादित भौतिक कार्य व्यापार को संचालित करने वाला स्वचालित मानव यंत्र (रोबोट) तो बनाया जा सकता है, लेकिन मन की अद्भुत विशिष्ट वैचारिक प्रक्रिया उस रोबोट से संभव ही नहीं। इसलिए कि मानव द्वारा संपादित कार्य व्यापार, स्वतंत्र मौलिक चिंतन या क्रिया–प्रतिक्रिया अनुभवजन्य होती है, जबकि तकनीकी क्रिया–व्यापार केवल किसी विशेष निर्देश पर आधारित कार्य मात्र होता है।

यहाँ पर एक जिज्ञासा जन्म लेती है कि क्या मन और मस्तिष्क एक ही चीज होती है या अलग–अलग? पहले विचार मन में आता है या मस्तिष्क में? और भी ऐसी अन्य जिज्ञासाएँ। पहली बात तो यह कि मन शरीर के अन्दर व्याप्त होते हुए भी शरीर का स्थूल हिस्सा नहीं है, वहीं मस्तिष्क शरीर का एक स्थूल अंग है। जहाँ मस्तिष्क सूचनाओं का भंडार गृह और होता है, वहीं मन विभिन्न विचार, चेतना, ज्ञान, इच्छाएँ, अनुभव, अनुभूतियाँ और भावनाओं का सागर होता है। जिस तरह पाँच बाह्य इंद्रियाँ मानी गई हैं, उसी तरह मन शरीर की अदृश्य आंतरिक इंद्रिय है। यह मन ही है जो किसी निर्दोष को सजा मिलते देख दुःखी होता है और किसी आतंकवादी को गोली बरसाते देख उत्तेजित हो जाता है। किसी हँसते हुए को देखकर हँसता है और किसी रोते हुए को देखकर रोने लगता है। मन ही चंचल, मन ही व्यग्र, मन ही दुखी, मन ही निराश, मन से ही उत्साह आता है। यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि मस्तिष्क की क्रियाशीलता तभी तक है, जब तक शरीर में चेतना विद्यमान है और यह चेतना मन का ही हिस्सा होती है। मन और मस्तिष्क के बीच चेतना एक पुल है।

आज मस्तिष्क यानी बुद्धि का रूप तकनीकी ने भी ग्रहण कर लिया है। हम तकनीकी के माध्यम से

ISSN 2349-4905

मानव बुद्धि की अपेक्षा किसी भी सूचना, स्मृति या कार्य को और भी ज्यादा क्षमता के साथ निष्पादित कर सकते हैं। इसलिए कि आज तकनीकी द्वारा कृत्रिम बुद्धिमत्ता का प्रयोग होने लगा है। बुद्धि का अर्थ यदि आंकड़ों के प्रसंस्करण क्षमता से लें तो ऐसी स्थिति में तकनीकी ने बुद्धि का रूप ग्रहण कर लिया है।

आज अनेक तकनीकी उपकरणों से यह देखने को मिल रहा है कि जहाँ मनुष्य कोई गणना या कार्य कुछ मिनटों में कर पाता है, वहीं तकनीक के प्रयोग से वही गणना या कार्य कुछ क्षणों में हो जाता है। कहीं–कहीं तो मानव और मशीन का भेद बुद्धि के स्तर पर मिट जाता है, जैसे– रोबोट या अन्य कोई तकनीक उपकरण, जब मनुष्य की अपेक्षा ज्यादा सटीक और अधिक कार्यक्षमता के साथ कार्य करते हैं तो कहा जाता है कि यह काम आदमी के वश की बात नहीं है। वहीं, जब कोई व्यक्ति कठिन शारीरिक श्रम करता है तो सामान्यतः लोग यही कहते हैं कि आदमी है कि मशीन। यही कारण है कि कभी–कभी मशीन मानव के रूप में और मानव मशीन के रूप में प्रतीत होता है।

आज जिस तरह से तकनीक, बुद्धि के स्तर पर मनुष्य की अपेक्षा अधिक क्षमता से कार्य कर रही है, वह दिनों–दिन मनुष्य की बुद्धि से बेहतर साबित हो रही है। वैसे भी यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने बुद्धि का अधिकतम 5 से 10 प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है जबकि तकनीक के साथ ऐसा नहीं है। मानव मस्तिक से जहाँ बहुत सारी बातें विस्मृत हो जाती हैं, वहीं तकनीक के माध्यम से हजारों वर्ष पुरानी बातें एक पल में प्राप्त की जा सकती हैं।

अब यहाँ यह सवाल उठता है कि तकनीकी उपयोग से आँकड़ों, सूचनाओं या स्मृतियों का तीव्र गति से प्राप्त हो जाना या किसी भी कार्य को मानव मन से ज्यादा बेहतर और तीव्र गति से संपादित हो जाना ही मानव मन से श्रेष्ठ साबित हो सकता है? इसको कुछ उदाहरणों से इस प्रकार समझा जा सकता है, जैसे– यदि किसी रोबोट को किसी भीड़ भरे इलाके में खड़ाकर एक खास इनपुट दे दिया जाए कि यहाँ उपस्थित सभी लोगों को गोली मार दो, तो फिर वह रोबोट यह नहीं देखेगा कि वहाँ बच्चे हैं, बूढ़े हैं या महिलाएं, वह सबको गोली मार देगा।

इसलिए कि यंत्रों का अपना कोई स्व–विवेक या उनके पास कोई संवेदना नहीं होती, वो एक पूर्व निर्धारित इनपुट पर ही आउटपुट देते हैं। लेकिन क्या मनुष्यों के भी साथ ऐसा ही होता है? यदि ऐसा होता तो भीषण रक्तपात के बाद कलिंग युद्ध में अशोक यूँ ही हथियार छोड़ युद्ध–विरत नहीं हो जाते, बाल्मीकी का लूट–पाट यूँ ही बंद नहीं हो जाता, महात्मा बुद्ध राजसी ठाट–बाट छोड़ मनुष्यों के दुःखों के निवारण हेतु आधी रात जंगल नहीं निकल पड़ते। हालांकि, इस उदाहरण में ब्रेनवॉश व्यक्तियों मसलन आतंकवादी, जेहादी, दंगाई, मनोरोगी अपवाद होते हैं। जिन्हें मनुष्य के रूप में एक खास इनपुट से ही संचालित मशीन ही कह सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तकनीक के पास अपना स्वयं का कोई विवेक नहीं होता, जो उन्हें सही या गलत, अच्छे या बुरे का भेद बता सके। तकनीक के पास कोई संवेदना नहीं होती। यह संवेदना कहाँ से आती है, यह संवेदना और भाव मन की उपज होते हैं, इसमें बुद्धि की भूमिका नगण्य है। यही कारण है कि कोई जरूरी नहीं कि जिसके पास बुद्धि हो, वह खूब दयालु और संवेदना से परिपूर्ण भी हो। यह संवेदना ही मनुष्य को मशीन से अलग करती है।

आज विज्ञान ने क्लोनिंग तकनीकी से मानव जीवन के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि हासिल की है। क्लोन तकनीक से खराब या नष्ट हो चुके मानव अंगों के स्थान पर बिल्कुल पूर्व की ही तरह काम

 ISSN 2349-4905

करते हुए नये अंग सफलतापूर्वक लगाये जाने लगे हैं, यह वाकई सुखद है। इतना ही नहीं आज कृत्रिम मानव अंग भी बनने लगे हैं। जिन्हें मानव शरीर समायोजित भी कर ले रहा है। जिसका उपयोग मनुष्य बहुत ही सहजता के साथ करने लगा है। हालाँकि इसकी दर अभी बहुत कम है। अंग तो अंग, क्लोन तकनीक से वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में एक मेंढक और भेड़ (डॉली) तक बना डाला है। जो बिल्कुल प्राकृतिक तरीके से उत्पन्न मेढक या भेड़ जैसे थे। लेकिन सवाल और चिंता इस बात की है कि यदि निकट भविष्य में जीव विज्ञान की इस क्लोनिंग तकनीकी ने मनुष्य का भी क्लोन बना दिया तो, क्या होगा? यह सवाल बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि जो मानव क्लोन बनेगा उसका उद्देश्य क्या होगा? यदि उच्च प्रतिभासम्पन्न, मानवीय मूल्यों का रक्षक, संवेदनशील व्यक्ति का क्लोन बना तो यह मानवता के लिए आशीर्वाद या चमत्कार ही होगा। लेकिन वही मानव क्लोन यदि विध्वंसक इरादों को साकार करने के लिए बनाया गया तो यह समूची मानवता के लिए संकट से ज्यादा कुछ नहीं होगा। जीव विज्ञानी डा. लाल जी सिंह का कहना था कि क्लोनिंग का दुष्परिणाम यह हो सकता है कि लोग एक ही व्यक्ति के कई क्लोन बना सकते हैं, जिनका उपयोग गलत कामों के लिए किया जा सकता है। इस क्लोन तकनीकी से सामाजिक व्यवस्था के छिन्न–भिन्न हो जाने का जो खतरा है, सो अलग।

इंग्लैंड के मशहूर लेखक हर्बट जार्ज वेल्स ने 1895 ई. में 'द टाइम मशीन' नामक एक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास कल्पना की वह उड़ान थी, जिसने पाठकों को हैरत में डाल दिया था। यह तकनीक की ऐसी कल्पना थी, जिससे समय पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता था। सवाल इस बात का है कि यदि ऐसा हुआ तो क्या होगा? समय को साध लेने का मतलब इतिहास और भूगोल के साथ पूरे ब्रह्माण्डीय गति को बदल देने जैसा होगा। हालाँकि, ऐसी कोई मशीन अभी बनी नहीं है। इसी तरह से एक और बात सोची जाए कि यदि किसी मनुष्य के मस्तिष्क में कोई चिप लगा दी जाए तो क्या होगा? जाहिर सी बात है कि चिप लगा देने से कोई व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक सूचना और विचार से सम्पन्न हो जायेगा, उसकी कार्य क्षमता अधिक हो जायेगी। डिमेंशिया जैसी अन्य बीमारियों से मुक्ति भी मिल सकती है। ऐसे में वह व्यक्ति एक तरह से सूचना सम्पन्न मानव मशीन होगा। लेकिन हाँ, ऐसा नहीं है कि कोई कम्प्यूटर चिप किसी मनुष्य के अंदर पीड़ा, करूणा, दया, क्रोध, हास्य आदि भाव और अनुभूतियों को बहुत ज्यादा बढ़ा देगी। हाँ, यह जरूर है कि किसी व्यक्ति का रोना, हँसना, क्रोधित होना या सोचना आदि कार्य उस चिप में संग्रहीत हो सकता है, जिससे बाद में उस चिप के माध्यम से उन भावों को पुनः जाना जा सकता है। अक्सर, ऐसा होता है कि हमारे मन में ऐसे बहुत से विचार आते हैं, जो कुछ ही देर बाद या कुछ दिन बाद विस्मृत हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में वह कम्प्यूटर चिप बहुत मददगार साबित हो सकती है।

इस विषय के संदर्भ में प्रमोद भार्गव की कहानी 'परखनली का आदमी' उल्लेखनीय है। कहानी एक परखनली शिशु की है। कहानीकार उस परखनली शिशु के भविष्य को जानने के लिए उसके मस्तिष्क में एक लघु कम्प्यूटर चिप छुपा देता है। वह उस चिप के माध्यम से उस परखनली शिशु (शशांक) के भविष्य को देखता है। वह देखता है कि भविष्य की पीढ़ी और उसका दौर कैसा होगा?

कहानीकार तकनीक प्रधान युग के भविष्य का चित्र खींचता है, जो इस प्रकार है– 'कम्प्यूटर क्रांति के बाद देश में कम्प्यूटर क्रांति की तरह जोर–शोर से रोबोट (यांत्रिक मानव) क्रांति आई थी और कार्यालयों में चपरासियों की जगह तैनात हो गए थे।... इन

 ISSN 2349-4905

यांत्रिक मानवों के मस्तिष्कों में सशक्त कम्प्यूटर बिठा दिए गए हैं।... विज्ञान ने मानवता को चुनौती दे दी है और इंसान मानवता को पैरों तले रौंद कर ज्यादा से ज्यादा यंत्रों से संबंध स्थापित करता चला आ रहा है। जीवन में भावना और सहानुभूति औपचारिक भर रह गई है। अब ऐसे में तकनीक का यह रोबो युग मानवीय मूल्यों की स्थापना हेतु कितना सहायक होगा इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

यहाँ पर यदि मनुष्य को ब्रह्माण्ड का एक हिस्सा माने तो यह भी मानना होगा कि इसी ब्रह्माण्ड में ग्रह, तारे, पेड़–पौधे, पशु–पक्षी, जड़–चेतन सभी कुछ विद्यमान हैं। ऐसे में यह सवाल उठता है कि क्या ब्रह्माण्ड में विद्यमान अन्य चीजों में भी बौद्धिक क्षमता या प्रतिभा होती है या नहीं? और यदि होती है तो क्या वह बौद्धिक प्रतिभा मनुष्यों सें अधिक या कम होती है? इन प्रश्नों का उत्तर जानने से पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि इस ब्रह्माण्ड में जितनी भी वस्तुएं विद्यमान है, उनमें मनुष्य की रचना अन्य की अपेक्षा कहीं अधिक विशिष्ट है। यह विशिष्टता इसलिए कि मनुष्य का मन और मस्तिष्क अगम और अनंत को जानने की जिज्ञासा रखता है। बुद्धि तो प्रत्येक जीव–जंतुओं, पशु–पक्षियों में होती है तभी तो आँधी, वर्षा और तूफान से बचने का उपक्रम सभी करते हैं, मनुष्य भी और पशु–पक्षी भी। जिस तरह मनुष्य अपने समाज से भाषा, संस्कार और संस्कृति अर्जित करता है, उसी तरह हाथी, घोड़ा, तोता और अन्य पशु–पक्षी भी अपने समाज से अपनी भाषा, संस्कार और संस्कृति अर्जित करते हैं। ख़ास प्रशिक्षण प्राप्त पशु–पक्षी तो कभी–कभी मनुष्यों से भी बेहतर बौद्धिक प्रतिभा का परिचय देते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस सृष्टि में मनुष्य, पशु–पक्षी या वृक्ष जो भी सजीव और स्थूल रूप में विद्यमान है, सबके अंदर बौद्धिक क्षमता और संवेदना व्याप्त होती है। हाँ, यह जरूर है कि उसके प्रकटीकरण के माध्यम अलग–अलग हो सकते हैं और बौद्धिक क्षमता भी भिन्न–भिन्न हो सकती है। फिर भी तुलनात्मक रूप से इस ब्रह्माण्ड में मनुष्यों की बौद्धिक क्षमता और मन की क्रियाशीलता अद्‌भुत और विशिष्ट है। जिसका एक बड़ा कारण मनुष्य के अंदर विद्यमान जिज्ञासा भाव और चेतन शक्ति है। इतना ही नहीं मनुष्यों की चिन्तन प्रणाली अन्य से अलग और व्यापक होती है और यह चिंतन कार्य मनुष्य के विराट चेतना का परिणाम होता है। जिसकी चेतना शक्ति अधिक जागृत होगी, वह सत्य के साक्षात्कार के उतने ही निकट होगा। उदाहरण के रूप में महात्मा बुद्ध की तपस्या और उसके परिणामस्वरूप प्राप्त सत्य से समझा जा सकता है। यही चेतना मन की गति है। जिसे चेतन, अवचेतन और अचेतन मन कहा गया है।

यहाँ एक और सवाल उठता है कि क्या कोई ऐसी बौद्धिक क्षमता भी है, जो सभी स्थूल और सूक्ष्म, सजीव और निर्जीव वस्तुओं से भी ऊपर या अपरिमित होती है? एक ही उत्तर समझ में आता है, और वह है, 'ईश्वर'। चाहे उसे हम साकार रूप में समझें या निराकार। कहते हैं कि इस सृष्टि का एक ही नियामक है, वह है– 'ईश्वर'। ईश्वरीय शक्ति से ही यह सृष्टि संचालित हो रही है। चूँकि चाँद–तारे, ग्रह–नक्षत्र, आकाश गंगा सब ईश्वर द्वारा ही निर्मित हैं और ईश्वर इन सबसे उपर है। कबीर भी कहते हैं कि वह घर ही सब से अच्छा है, जहाँ हमारे ईश्वर का निवास है। ईश्वर के घर में न सुख है, न दुःख, न सच न झूठ; न पाप न पुण्य; न दिन न रात; न चाँद न सूर्य; वहाँ पर हमेशा बिना किसी ज्योति के उजाला है। वहाँ न कोई आधार है, न वो निराधार है; उस घर की कोई अंदर या बाहर सीमा नहीं; कोई पिंड या ब्रह्माण्ड भी नहीं; पाँच तत्व अर्थात् जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा पृथ्वी कुछ भी नहीं। मित्र

 ISSN 2349-4905

उस घर की महिमा बताने के लिए उचित शब्द ही नहीं बने।

अभिप्राय यह कि यदि ऐसी कोई जगह है, या यूं कहा जाए कि ईश्वर है तो वहाँ किसी भी स्थूल या सूक्ष्म, सजीव या निर्जीव वस्तु से अधिक बल्कि अपरिमित बौद्धिक क्षमता होगी। जहाँ तक तकनीकी और मानव–मन की बात है तो यह दोनों शब्द अलग–अलग अर्थ रखते हैं, लेकिन प्रभावित दोनों एक दूसरे से होते हैं। एक बात और विचारणीय है कि यदि तकनीक का प्रयोग मानव मन ने सुविचारित रूप से मानवता के कल्याण के लिए किया, तब यह किसी वरदान से कम नहीं। लेकिन, यह ध्यान रखना होगा कि यदि किसी तकनीक का प्रयोग सृजन के बजाय विध्वंस के लिए होने लगे तो वह मानवता के समक्ष किसी अभिशाप से कम नहीं होगा।

ISSN 2349-4905

मैलोरी, हिलेरी और तेनजिंग की याद में

प्रोफेसर शेखर पाठक

एशिया के बीचों–बीच जो हिमालय पिछले 6 करोड़ साल में विकसित होकर उपस्थित है और हर साल 2–4 मिलीमीटर ऊपर उठ रहा है, उसके सर्वोच्च शिखर चोमोलंगमा या सागरमाथा या एवरेस्ट में 29 मई 1953 को मनुष्य के पहुँचने की आधी शताब्दी के उत्सव को अब एक डेढ़ दशक होने जा रहा है। इस बीच जब नैनीताल पर्वतारोहण क्लब की स्वर्ण जयन्ती मनाई जा रही है, तब उस अभियान को 65 साल होने जा रहे हैं। भारत, नेपाल तथा अन्यत्र 2003 में भव्य समारोह आयोजित हुए। अनेक पुस्तकें तथा पत्रिकाओं के विशेषांक निकले, फिल्में बनी तथा विशेष एवरेस्ट अभियानों का आयोजन हुआ। सैकड़ों पर्वतारोही इस सर्वोच्च शिखर में पहुँचने की तैयारी में इसके आधार शिविर में डेरा डाले रहे। वे सपने देख रहे थे कि उस वर्ष वे भी इस शिखर को चूम सकेंगे। पुराने पर्वतारोहियों की नई पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों के पद चिह्नों पर जाने का प्रयास कर रहीं थीं। और तो और इस ऊँचाई में वियाग्रा नामक संभोग में सहयोगी दवा का मनुष्य शरीर पर असर भी देखने का प्रयोग किया गया था।

हम लोग बहुत सी सम्बन्धित घटनाओं को अक्सर भुला देते हैं। हमें शिखर याद रहते हैं और आधार को भूल जाते हैं। इस साल यदि एवरेस्ट शिखर को मनुष्य द्वारा पहले पहल स्पर्श करने का 65 वाँ साल शुरू हो रहा है तो इसी शिखर पर चढ़ने की पहली कोशिश के तीसरे तथा तब के अंतिम अभियान में इस शिखर के बहुत करीब (यह सम्भावना अभी भी बनी है कि वे शिखर तक गये थे) पहुँचने वाले और फिर उस ऊँचाई में हिम समाधि लेने वाले जॉर्ज हरबर्ट मैलोरी (18 जून 1886–8/9 जून 1924) तथा एण्ड्रयू सैण्डी इरवीन (8 अप्रैल 1902–8/9 जून 1924) के दुखद पर यादगार अंत को भी जल्दी ही 94 साल हो जायेंगे। अतः हम 1953 को याद करते हुए 1924 को तो नहीं ही भूल सकते हैं। वह मैलोरी ही थे, जिन्होंने 1923 में यह पूछे जाने पर कि 'क्यों वे एवरेस्ट में आरोहण करना चाहते हैं?' अपना चर्चित जबाब दिया था कि 'क्योंकि वह वहाँ है'।

तिब्बत में चोमोलंगमा तथा नेपाल में सागरमाथा नाम से पुकारा जाने वाला यह शिखर सदियों से इस क्षेत्र के लोगों, विशेष रूप से शेरपा समुदाय का सुपरिचित और पूज्य था। इसके सौन्दर्य और मिथक सम्पन्नता से ये लोग सुपरिचित थे। यदि इन हिमालयी समुदायों को पता नहीं था तो वह था; इस शिखर की आधुनिक पैमानों से नापी गई वास्तविक ऊँचाई। यद्यपि उन्हें इसके सर्वोच्च होने का पारम्परिक विश्वास था। इसीलिए तिब्बती इसे 'विश्वमाता' कहकर पर्वतों के प्रति मूल मानव आस्था को प्रकट करते रहे हैं तो नेपाली इसे सागरमाथा कहकर उस भूगर्भिक/भौगोलिक सत्य को उजागर करते हैं जो बताता है कि जहां आज हिमालय खड़ा है वहां कभी 'टैथिस' नामक समन्दर लहराता था।

ISSN 2349-4905

साम्राज्यवाद और अन्वेषण

18–19वीं सदी में जब यूरोपीय साम्राज्यवाद ने दुनिया के बड़े हिस्से को हस्तगत किया तो इस प्रक्रिया का अगला चरण अन्वेषण तथा सर्वेक्षणों के सिलसिले के रूप में प्रकट हुआ। किसी उपनिवेश को साम्राज्य के सक्रिय हिस्से में बदलने के लिए यह जरूरी था। 19वीं सदी में बर्तानवी औपनिवेशिक शासकों ने जब एशिया में भौगोलिक सर्वेक्षण शुरू किये थे तो उनकी पैनी नजर सबसे ज्यादा हिमालय और हिमालय पार के क्षेत्रों में थी। यद्यपि इसके पीछे संसाधनों, बाजारों तथा उपनिवेशों की खोज का काम छिपा था। साम्राज्यवाद मनोरंजन में मुनाफा देखता है और अन्वेषण में अर्थ। इसके अन्तर्गत शुद्ध और स्वतंत्र मानवीय कार्यकलाप सम्पादित करना मुश्किल रहा है।

आज से 166 साल पहले 1852 में जब एक भारतीय सर्वेक्षक राधानाथ सिकदर ने उस समय के ऊँचाई मापक उपकरणों तथा गणना पद्धति के आधार पर चोमोलंगमा/सागरमाथा की दुनिया के सबसे ऊँचे शिखर के रूप में पहचान की थी और इसे 'शिखर 15' नाम दिया था, तो यह शायद ही किसी ने सोचा होगा कि यह अन्वेषण और सर्वेक्षण ही नहीं हिमालयी सौन्दर्य, कठिनाई तथा मानवीय दुस्साहस के क्षेत्र में भी सबसे अलग पर्वत सिद्ध होगा। यह कल्पना शायद ही की गयी होगी कि 2017 तक 65 से अधिक देशों के 1500 से अधिक पर्वतारोही इस शिखर के सर्वोच्च बिन्दु तक चले जा चुके होंगे या 200 से ज्यादा लोग उस गन्तव्य तक पहुँचने या साथियों को पहुँचाने की कोशिश में दिवंगत हो चुके होंगे। इनमें से कुछ हिम श्रृखलों में समाधिस्थ होने वाले भी हैं।

'शिखर 15' की ऊँचाई पहली बार 29002 फीट आंकी गई थी, जो लगभग 8840 मीटर के बराबर कही जा सकती है। बाद में ज्यादा सही ऊँचाई मापी गई जो 29028 फीट यानी 8848 मीटर थी। यह ऊँचाई एक शताब्दी से ज्यादा समय तक प्रचलित रही। 2003 में दुनिया ने एवरेस्ट की नई ऊँचाई 29035 फीट यानी 8852 मीटर माननी शुरू की है, क्योंकि हर साल 2 मिलीमीटर आसमान की तरफ जाने वाले शिखर की ऊँचाई, सदी डेढ़ सदी में ही सही, बदलनी पड़ेगी।

पहचाने जाने के 13 साल बाद 1865 में इस शिखर का नाम भारत के पूर्व सर्वेयर जनरल जॉर्ज एवरेस्ट, जो इस पद पर 1830 से 1843 तक रहे और जिनके नेतृत्व में ग्रेट ट्रिगनोमेट्रिकल सर्वे ने पर्याप्त प्रगति की, के नाम पर रख दिया गया। जॉर्ज एवरेस्ट के उत्तराधिकारी एण्ड्रू स्काट वाग ने पहले इसे 'मौण्ट' नाम दिया था। यह दुःखद और आश्चर्यजनक है कि चोमोलंगमा तथा सागरमाथा जैसे अत्यन्त सार्थक और गहरे सम्बोधन, जो इस शिखर के लिए स्थानीय समाजों में सदियों पहले जन्म ले चुके थे और 19वीं सदी में इन्हें कोई नहीं भूला था, उपलब्ध होने के बावजूद इन्हें भुला दिया गया। हालाँकि इसमें स्वयं जॉर्ज एवरेस्ट की सहमति न थी।

यह गनीमत है कि किसी और शिखर का नाम किसी व्यक्ति के नाम पर नहीं रखा गया। 'के–2' को एक बार 'गाडविन ऑस्टिन' कहा जाने लगा था लेकिन अब 'के–2' नाम ही प्रचलित है। इसी तरह औपनिवेशिक काल में नन्दादेवी को 'माउण्ट एलिजाबेथ' कहने का निर्णय नहीं लेना पड़ा। यहाँ महान सर्वेक्षकों आदि के प्रति असम्मान प्रकट करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है बल्कि बात उस परम्परा को याद करने की है जो अपने आसपास के शिखरों, नदियों तथा तालाबों आदि का बहुत समझदारी के साथ नामकरण करती रही है। सर्वेक्षकों का योगदान तो इतिहास में दर्ज है ही। अन्वेषक

ISSN 2349-4905

नैनसिंह रावत के नाम से जुड़ा 'नैनसिंह रैंज' भी 1961 से पुराने नाम 'नांगलौंग कांगरी' से ही जाना जाने लगा, जब भूगोलविदों के प्रस्ताव पर प्रकृति के किसी भी रूप को व्यक्तियों के नाम पर रखने की परम्परा समाप्त कर दी गई।

19वीं सदी के अन्त तक हिमालय के द्वार दुनिया के लिए खुल चुके थे। सर्वेक्षण और व्यापक भौगोलिक अन्वेषण ने हिमालय की कितनी ही प्राकृतिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक विशेषताएँ दुनियाँ के सामने रख दी थी। 19वीं सदी के अन्त तक एवरेस्ट में पर्वतारोहण का प्रयास तो नहीं हो सका था लेकिन इस शिखर पर पर्वतारोहण करने का सपना देखा जाना प्रारम्भ हो गया था। तत्पश्चात अधिकांश सर्वोच्च शिखरों के आधार शिविरों, नदियों के जन्म स्थलों तथा मानव सभ्यता के सीमान्तों तक जाने का सिलसिला नियमित रूप से जारी हो गया था। यद्यपि तिब्बत तथा नेपाल जैसे 'बन्द' देशों के कारण एवरेस्ट अभियानों को गति नहीं मिल सकी। इसीलिये 'के–2', नन्दादेवी या कंचनजंघा के सर्वेक्षण तथा अभियान पहले शुरू हो गये थे।

1903–04 में फ्रांसिस यंगहजबैण्ड, जो ब्रिटिश अभियानों का पहले प्रेरक और फिर आयोजक बना था, के नेतृत्व में तिब्बत पर हुए बर्तानवी हमले ने 'बन्द' तिब्बत को औपनिवेशिक हितों के लिए खोल दिया था। ये हित व्यापार, अन्वेषण तथा सामरिक पक्षों से जुड़े थे। दरअसल 1893 में ही गोरखा फौज के चार्ल्स ब्रूस तथा तब चित्राल (पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त) में राजनैतिक अधिकारी के रूप में कार्यरत फ्रांसिस यंगहजबैण्ड एवरेस्ट अभियान के बाबत बात–बहस कर चुके थे। लार्ड कर्जन की भी इसमें बहुत रुचि थी।

इस बीच 1911 में एक स्काट रसायनशास्त्री एलेक्जेण्डर केलस ने दो शेरपाओं को 22,405 फीट ऊँचे शिखर की धार से तिब्बत ले जाकर उनके शरीर पर ऊँचाई का असर देखने का प्रयास किया था और पाया था कि शेरपा लोग उच्च स्थानों पर भी ठीक–ठाक रह सकते हैं या यह कहें कि उनके शरीर में उच्च क्षेत्र की जलवायु से अनुकूलन की असाधारण क्षमता है (यही डॉक्टर केलस पहले एवरेस्ट अभियान में जून 1921 में एवरेस्ट की उत्तरी ढलान में दिवंगत हुए थे)। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण प्रथम एवरेस्ट अभियान कुछ सालों के लिए स्वाभाविक रूप से स्थगित हो गया था।

तीन किस्तों में पहला अभियान

जून से सितम्बर 1921 के बीच सक्रिय एवरेस्ट अभियान का पहला सिलसिला एक प्रकार से शिखर हेतु मार्ग सर्वेक्षण पर केन्द्रित था। शिखर पर जाने के लिए मार्ग या मार्गों की पड़ताल जरूरी थी। क्योंकि जोखिम के घटने–बढ़ने का अनुपात सही मार्ग के चयन पर निर्भर था। इसके मुखिया चार्ल्स बरी थे। यह दल दार्जिलिंग से तिब्बत (मुख्यतः अरुन नदी के जलागम क्षेत्र) होता हुआ उत्तरी मार्ग से 22,500 फीट ऊँचे लाखपा दर्रे तक जाकर वहाँ से एवरेस्ट शिखर हेतु मार्ग की तलाश करने में कामयाब रहा। एक प्रकार से यह दल उत्तरी तथा उत्तर–पूर्वी एवरेस्ट घाटियों का पहला सर्वेक्षण कर सका। ये घाटियाँ कांगलुंग, खार्ता तथा रौंगबू थीं। इस दल ने पाया कि नॉर्थ कोल से एक पर्वत धार शिखर तक चली जाती है। इस दल में जॉर्ज मैलोरी भी था। अप्रैल–जून 1922 में यह दल पुनः यानी दूसरी बार मार्ग ढूँढने की कोशिश में एवरेस्ट की उत्तर–पूर्वी घाटियों में गया और 27,300 फीट तक पहुँचने में कामयाब हुआ। लेकिन इस साल एक बड़ी त्रासदी भी हुई। अभियान के 7 शेरपा सहयोगी–लाखपा, नुरबू, पासंग, पेमा, सांगे, दोर्जे तथा रिम्बा–एक दुर्घटना में काल कवलित हुए। ये इस पर्वत में आरोहण करने

ISSN 2349-4905

में हुई पहली त्रासदी थी। एक हिमस्खलन ने इन 7 हिमालय पुत्रों को अपनी गोद में समा लिया। स्वयं मैलोरी बाल बाल बचा। इस त्रासदी का डर वह अन्त तक उसके मन में बना रहा।

अप्रैल–जून 1924 में यह अभियान तीसरी तथा अंतिम बार तिब्बत में उत्तर से रौंगबू मठ और ग्लेशियर की ओर से शुरू होकर अधिकतम ऊँचाई तक जाने में कामयाब रहा। 8 जून 1924 की सुबह इस अभियान के दूसरे दल ने जॉर्ज मैलोरी तथा एन्ड्रयू इरवीन को एवरेस्ट शिखर से कुछ नीचे देखा और कोहरे ने उस सुबह जो दृश्य ढका, वह फिर कभी प्रकट नहीं हुआ। दोनों पर्वतारोही सर्वोच्च शिखर के बहुत करीब जाकर वहीं खो गये और पर्वतारोहण इतिहास के सर्वाधिक चर्चित नायकों में शामिल हो गये। यह दुनिया की सबसे अधिक ऊँचाई पर होने वाली पहली मृत्यु थी।

75 साल बाद 1 मई 1999 को 8155 मी. यानी 26760 फीट पर मैलोरी का शरीर एवरेस्ट की एक ढलान से ढूँढ निकाला गया था, जो एक अलग और रोमांचक कहानी है। इरवीन आज भी कहीं हिम समाधिस्थ है और हो सकता है उसका शरीर किसी नये अभियान का इन्तजार कर रहा हो। मैलोरी के शरीर के साथ उसका कैमरा और उसकी पत्नी की फोटो नहीं मिली। ये दो मामले उसके शिखर तक जाने की कहानी को उलझाते और सुलझाते हैं। इनके साथ इस अभियान में शमशेर मान तथा मन बहादुर भी दिवंगत हुये थे। इस तरह इस अभियान में कुल 11 जानें गई थी। उनके आइस एक्स या आक्सीजन सिलिन्डर बाद तक मिलते रहे।

इस त्रासदी ने कुछ सालों के लिए एवरेस्ट अभियान को विराम सा दे दिया था। लेकिन अब अमेरिकी, स्विस तथा जर्मन पर्वतारोही भी एवरेस्ट अभियान हेतु मन बनाने लगे थे। अतः इंग्लैण्ड ने पुनः प्रयास शुरू किये। वह पहले सफल अभियान के रूप में अपने दल को देखना चाहता था। दलाई लामा से तिब्बत प्रवेश तथा अभियान की औपचारिक स्वीकृति ली गयी। 1933 में यह अभियान पुराने मार्ग से गया लेकिन 1922 के अभियान की ऊँचाई से आगे नहीं जा सका। इस साल एवरेस्ट शिखर तक जो पहला ब्रिटिश जहाज उड़ा था, वह भी शिखर के करीब दुर्घटनाग्रस्त होते–होते बचा था। तूफान से उड़ती पाषाणवत् बर्फ ने इस जहाज की एक खिड़की नष्ट कर दी थी।

1934 में मौरिस विल्सन नामक अंग्रेज ने तिब्बती बनकर अकेले एवरेस्ट पर पर्वतारोहण किया और वह मारा गया। अगले साल 6400 मीटर पर उसका शरीर मिला। 1936 का बर्तानवी अभियान भी मानसून के कारण आगे नहीं बढ़ सका और 1938 का अभियान आगे तो बढ़ा पर 8320 मीटर पर रुक गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बर्तानवी एवरेस्ट अभियानों को अगले 12 साल तक के लिये विराम दे दिया गया। यद्यपि 1947 में कनाडा के दल ने तिब्बत से तथा 1950 में बर्तानवी–अमेरिकी दल ने नेपाल से पुनः मार्ग सर्वेक्षण का कार्य किया। 1951 में एक स्वीडी पर्वतारोही लारसन भी नेपाल की ओर से इस क्षेत्र में गया। 1951 में एक बर्तानवी दल पुनः सर्वेक्षण हेतु गया और 1952 में उन्होंने अगला एवरेस्ट अभियान घोषित कर दिया। द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त पर्वतारोहण क्षेत्र में तकनीकी प्रगति के अलावा नेपाल द्वारा एवरेस्ट क्षेत्र के पर्वतों को पर्वतारोहण हेतु खोला जाना एक नया और महत्त्वपूर्ण आयाम था।

पहला सफल अभियान

इस समय एवरेस्ट के शिखर तक पहुँचने के लिए प्रतियोगिता शुरू हो गयी थी। स्विस पर्वतारोही रैमण्ड लेम्बर्ट तथा तेनजिंग नौर्गे 8598 मीटर (28210 फीट) तक जाने में सफल हुए थे। इतनी ऊँचाई तक इससे

ISSN 2349-4905

पहले शायद जॉर्ज मैलोरी और इरवीन ही गये थे। इस अभियान में तेनजिंग तथा लेम्बर्ट की मृत्यु तथा शिखर दोनों से दूरी बराबर थी। वे शिखर तथा मृत्यु दोनों को करीब से देख कर सुरक्षित लौट आये। यह अनुभव ही 1953 में तेनजिंग को शिखर तक ले जा सका था। इस बीच 1950 में मौरिस हरजोग तथा लुई लासेनल ने सफलतापूर्वक अन्नपूर्णा शिखर (8000 मीटर से अधिक ऊंचा) में जाने में कामयाबी पाई। यह मनुष्य द्वारा स्पर्श किया गया तब तक का सर्वोच्च स्थान था।

1953 में बर्तानवी अभियान पुनः एवरेस्ट में गया। इसके मुखिया थे जॉन हण्ट। नये उपकरण और विकसित सामान अब आ गये थे। ज्यादा उपयोगी कपड़े तथा असरदार दवाएँ अब उपलब्ध थीं और पिछले तीन दशकों के अनेक अभियानों की असफलताओं का अनुभव भी। ये सब मिलकर आगे बढ़ने का और पर्वत चढ़ने का मनोविज्ञान रचते थे। 13 अप्रैल–3 जून 1953 के अभियान में 350 से ज्यादा नेपाली भारवाहक और अनुभवी गाइड साथ थे। इन्हीं में तिब्बत की 17000 फीट की ऊँचाई पर गुरू रिनपोचे झील की परिक्रमा करती माँ से जन्मे नेपाली/भारतीय शेरपा तेनजिंग नौर्गे (29 मई 1915–9 मई 1986) और न्यूजीलैण्ड के 1700 मधुमक्खी छत्तों के स्वामी तथा प्रतिवर्ष 25–30 टन शहद उत्पादन करने वाले परिवार के एडमण्ड पर्सिवल हिलेरी (20 जुलाई 1919–11 जनवरी 2008) थे। ये दोनों पिछले 1–2 सालों में हिमालय के अनेक क्षेत्रों में पथारोहण और 5 शिखरों में पर्वतारोहण (गढ़वाल भी आये थे) कर अपने को बड़े अभियान के लिए तैयार करते रहे थे।

फिलहाल 29 मई 1953 को अपराह्न 11.30 बजे तेनजिंग तथा हिलेरी के साथ–साथ शिखर पर पहुँचने की कहानी विश्वविख्यात है। यह 11 वाँ बर्तानवी एवरेस्ट अभियान था। 29028 फीट पर पहुँच कर हिलेरी ने तेनजिंग से अंग्रेजी शैली में हाथ मिलाया पर तेनजिंग ने हिमालयी और ज्यादा गहरी मानवीय ऊष्मा भरी शैली में हिलेरी को गले लगा लिया। क्रिकेट तथा हाकी की तरह यहां कोई किसी को कंधे में नहीं उठा सकता था। चोमोलंगमा शिखर ने अपने दो बेटों को अपने इतने पास एक–दूसरे के गले मिलते हुए निश्चय ही पहली बार देखा था। हो सकता है चोमोलंगमा ने जॉर्ज मैलोरी तथा इरवीन को एक दूसरे के गले मिलते हुए और फिर दोनों को अलग–अलग मौत के गले मिलते हुए भी देखा हो।

तेनजिंग तथा हिलेरी जब ऊपर शिखर पर जा रहे थे तो वे भी उन तमाम पर्वतारोहियों की तरह थे जो 1921 से लगातार प्रयासरत थे और हर हार में से भविष्य की जीत निकालना चाहते थे। लेकिन जब वे नीचे उतर रहे थे तो वे नायक द्वय बन चुके थे। दोनों पर्वत शिखर से अपनी विनम्रता में बढ़ोत्तरी करके भी लौटे थे। यह सबसे बड़ी बात थी, जिसे इधर के सालों के अभियानों में सभी भूल रहे हैं। तबसे एवरेस्ट शिखर पर जाने का सिलसिला न रुका है और न ही रुकेगा।

बनते और बढ़ते गये प्रतिमान

फिर एवरेस्ट में चढ़ने के प्रतिमान बनते गये। अब तक 200 से अधिक पर्वतारोही/सहयोगी एवरेस्ट अभियानों में दिवंगत हुए हैं। 15 मार्गों से 1500 से अधिक पर्वतारोही, जिनमें 80 से अधिक महिलाएँ भी हैं, इस शिखर में पहुँच चुके हैं। सबसे पहले दो बार (1963 तथा 1965) एवरेस्ट में जाने वाले नवांग गोम्बू बने तो सबसे पहले बिना ऑक्सीजन के इस शिखर पर इटली के रिनोल्ड मेसनर तथा ऑस्ट्रिया के पीटर हेबलर 8 मई 1978 को गये। मेसनर ने अकेले ही इस इतिहास को 1980 में दोहराया। एवरेस्ट पर पहली महिला जापान की जुनको टाबेइ 16 मई 1975 को पहुँची तो पहली भारतीय महिला बचेन्द्री पाल 23

ISSN 2349-4905

मई 1984 को इस शिखर को चूम सकी। शिखर पर बिना ऑक्सीजन के पहली महिला लीडिया ब्रेडे 14 अक्टूबर 1988 को पहुँची थी। 22 अप्रैल 1991 को शिखर पर पहुंचने वाली पासंग ल्हामू शेरपा पहली नेपाली महिला थी, जो वापसी में दिवंगत होने वाली पहली महिला पर्वतारोही भी बन गयी।

2001 में एरिक वीहेनमेयर पहले नेत्रहीन थे, जो शिखर तक पहुँचे तो 1988 में टोम व्हीटेकर पहले एक पाँव वाले पर्वतारोही के रूप में ऐसा कर सके थे। नेपाल के शेरपा टेम्बा टसेरी सबसे कम उम्र (15 साल) में 22 मई 2001 को एवरेस्ट पर चढ़े थे। 2003 में एक 15 साल की शेरपा लड़की मिंग कीपा ने शिखर का स्पर्श किया तो उसकी बहिन लाखपा शेरपा पहली महिला बनी जो तीन बार इस शिखर पर पहुँच चुकीं हैं। जापान के 65 वर्षीय वाई. मियूरा शिखर पर पहुँचने वाले सबसे बुजुर्ग पर्वतारोही बताये गये हैं।

शेरपा तेनजिंग नौर्गे के बेटे जामलिंग (23 अक्टूबर 1996) तथा पोते तासी तेनजिंग (23 मई 1997) ने शिखर पर पहुँचने में सफलता पाई तो हिलेरी के बेटे पीटर ने 1990 में तथा जॉर्ज मैलोरी के पोते जॉर्ज मैलोरी द्वितीय ने 1995 में यह कर दिखाया। 25 मई 2002 को पीटर हिलेरी तथा 1963 के अमेरिकी एवरेस्ट अभियान दल के शिखर पर पहुँचने वाले पर्वतारोही बैरी बिशप के पुत्र ब्रैण्ट बिशप अपने पिताओं के पर्वतारोहण अभियानों को सम्मान देते हुए शिखर तक पहुँचे थे। तेनजिंग के पुत्र जामलिंग ने आधार शिविर से इस अभियान के संचालन में सहयोग दिया था। यही नहीं 2012 में नेपाली पूर्व प्रधानमंत्री प्रचंड के बेटे ने एवरेस्ट शिखर पर देश का ही नहीं अपनी पार्टी का लाल झंडा भी फहरा दिया।

अमेरिकी पर्वतारोही पीट अथांस 7 बार एवरेस्ट में जाने वाला पहला पश्चिमी नागरिक या गैर शेरपा बना। 1990 में स्लोवेनिया के एन्द्रेयी तथा उसकी पत्नी मारीजा पहले दम्पत्ती के रूप में शिखर पर पहुँचे। इसी तरह जीन नोएल रोसे तथा उनके बेटे जैबूलेन शिखर पर चढ़ने वाले पहले पिता–पुत्र बने तो अल्बर्टो तथा फेलिक्स नामक दो भाई 1996 में शिखर पर पहुँचे। कुसांग शेरपा हर दिशा से शिखर पर चढ़ने वाले पर्वतारोही बने तो आपा शेरपा मई 2011 तक 21 दफे इस शिखर पर जा चुके हैं और वे फिर वहाँ नहीं जाएंगे, 51 साल के पर्वतारोही ने यह घोषणा की है।

2 पर्वतारोही 10 बार इस शिखर पर पहुँच चुके हैं। 17 फरवरी 1980 को पोलैण्ड के अभियान ने पहले ऐसे दल के रूप में सफलता प्राप्त की जो जाड़ों में इस शिखर तक पहुँचा था। 1991 में इस शिखर के ऊपर गुब्बारे से उड़ने में लियो डिकिंसन ने सफलता पाई तो सन् 2000 में 7 अक्टूबर को स्लोवेनियन डेवो करनिकर ने शिखर से आधार शिविर तक निरन्तर स्की कर रिकार्ड कायम किया और अभी भी रिकॉर्डों को बनाने का सिलसिला जारी है। देखें इस साल कितने नये रिकार्ड बनते हैं।

23 मई सन् 1991 को 89 पर्वतारोहियों ने इस शिखर का स्पर्श किया था तो 10–11 मई 1996 को 10 पर्वतारोही इस शिखर पर काल कवलित हो गये थे। इस साल कुल 15 पर्वतारोहियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। 1965 में पहली बार कोई भारतीय अभियान सफलता प्राप्त कर सका। यद्यपि दल के नेता एम. एस. कोहली शिखर पर नहीं चढ़ सके लेकिन नौ भारतीय पर्वतारोही शिखर तक गये। इनमें अवतार सिंह चीमा पहले भारतीय बने, जिन्होंने इस शिखर का स्पर्श किया। 20 मई 1965 को उनके साथ नवांग गोम्बू शिखर पर थे। फिर 22, 24 तथा 29 मई को सोनम ग्यात्सो, सोनम वंग्याल, सी.पी.जोहरा, अंग कामी शेरपा, एच.पी.एस. अहलूवालिया, हरीश चन्द्र सिंह रावत तथा फु दोर्जी

ISSN 2349-4905

शिखर पर पहुंचे थे। इनके शिखर तक पहुंचने में प्रख्यात पर्वतारोही, नेहरू पर्वतारोहण संस्थान के पूर्व प्रधानाचार्य और नैनीताल पर्वतारोहण क्लब के पूर्व सचिव कर्नल जे.सी. जोशी का भी योगदान था। क्योंकि जब अन्य साथी शिखर की ओर प्रस्थान कर रहे थे तब वे समिट कैम्प से नीचे आक्सीजन सिलिन्डर लाने के लिये उतर रहे थे। हमारे प्यारे लवराज धरमसत्तू ने एवरेस्ट को 7 बार उसके शिखर तक पहुंच कर सलाम किया है। हर तरफ और मार्ग से वह शिखर पर गया है। वह अपने कदमों में शिखर पर चढ़ने का गौरव और पीठ पर एवरेस्ट क्षेत्र का कूड़ा लेकर आता है।

हिमालय में निसर्ग के साथ निवासी भी हैं

प्रश्न हर साल यह भी उठना चाहिये कि क्या हिमालयवासियों पर भी किसी की नजर है? या हर कोई सिर्फ शिखर तथा स्वयं को देख रहा है? शुभ लाभ, शुभ प्रचार के साथ क्या यह शुभ संकेत भी मिल रहा है कि 60 साल में हिमालयवासियों के हाल कितने बदले हैं, इसे जानने का प्रयास होगा?

अधिकांश पर्वतारोहियों में आभिजात्य तथा प्रभुत्व का समन्वित संस्कार पाया जाता है। वे पर्वतों को 'जीतने', 'फतह करने' या उन पर 'हमला' करने जाते हैं। 'एसोल्ट','कन्कर्ड' या 'ट्रइम्फ' जैसे शब्द इस हेतु इस्तेमाल होते रहे हैं। शिखर से उतरने के बाद हिलेरी के मुख से भी जो शब्द निकले थे वे थे 'वेल जॉर्ज! वी नौक्ड द बास्टर्ड ऑफ' (इसका अनुवाद होगा– 'जॉर्ज हमने हरामजादे को ध्वस्त कर दिया है)। यद्यपि जोखिम उठाने की सतत प्रक्रिया और एक विशिष्ट किस्म का पागलपन भी पर्वतारोहियों में होता है। इसी मनोविज्ञान के तहत वे शिखरों को 'जीतते' हैं। उन पर 'हमला' करते हैं। कभी कभी वे शिखरों को 'हत्यारा' तक कह डालते हैं। यद्यपि उनका इरादा पर्वतों का अपमान करना नहीं होता है पर इस भाषा में जो भाव झलकता है वह अवश्य प्रकृति पर मनुष्य के वर्चस्व की कामना से जुड़ा है।

पर्वतारोही की जीत में पर्वत की हार निहित नहीं है। जब मनुष्य हारता है तब भी प्रकृति जीतती है और जब मनुष्य जीतता है तो भी। दरअसल मनुष्य तो कुछ घण्टे भी इस पर्वत के शिखर पर नहीं रुक सकता। दरअसल यह मनुष्य की धरती पर खड़े होकर आसमान के सबसे करीब जाने की कोशिश है। उसकी शिखर तक जाने की आकांक्षा में भी कोई खोट नहीं है। खोट है हिमालय में शिखरों के अलावा कुछ भी और न देख पाने की दृष्टि में। अगर पर्वतारोही और तरह–तरह से पर्वतारोहण का धंधा करने वाले इन सर्वोच्च शिखरों के साथ हिमालयवासियों पर नजर नहीं डालेंगे तो यह एक नये किस्म के संकट को जन्म देगा। अतः एवरेस्ट शिखर पर पहुंचने के उत्सवों के केन्द्र में आम हिमालयवासी और उनके मुद्दे भी रहने चाहिए। अब उच्च हिमालय की पारिस्थितिकी, विश्वव्यापी तापन तथा जलवायु परिवर्तन का हिमालय पर असर, ग्लेशियर झीलों का टूटना, वहाँ का भूगर्भ, भूकम्पीयता, जैव तथा सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता जैसे पक्षों की तरफ भी गहरी नजर जानी चाहिये।

इसी दृष्टि के कारण हिमालयी पर्वतारोहण के आधार शेरपा समुदाय को कभी उचित सम्मान नहीं मिला। और तो और एवरेस्ट के सबसे पहले सफल अभियान (1953) में तक उन्हें दोयम दर्जे का आदमी माना जाता रहा। अनेक बार शिखर पर फोटो खीचते समय उन्हें हटने को कहा जाता था। सालों तक वे 'मुख्य' पर्वतारोहियों के टैन्ट में रहने का मौका नहीं पा सके। प्रबुद्ध पर्वतारोहियों को अब याद भी

 ISSN 2349-4905

नहीं होगा कि 1961 के नीलकंठ अभियान में शिखर पर जाने वालों में ओ.पी. शर्मा के साथ दो शेरपा पर्वतारोही लखपा ग्यालबू तथा फुरबा लोबसंग भी थे लेकिन फिल्म डिवीजन ने जब इस अभियान पर फिल्म बनाई तो दोनों शेरपा पर्वतारोहियों का उसमें सामान्य उल्लेख तक नहीं किया गया था। बाद में ये दोनों पर्वतारोही अभियानों में ही दिवंगत हो गये। यानी इन विजेताओं को मात्र 'कुली' माना जाता रहा।

एवरेस्ट शिखर में पहुंचे 1200 पर्वतारोहियों में से एक तिहाई शेरपा हैं। नेपाल माउण्टेनियरिंग एसोसियेसन द्वारा प्रकाशित 2001 तक के 958 एवरेस्टरों में से 333 नेपाली/शेरपा हैं। कनकमणि दीक्षित के अनुसार एवरेस्ट शिखर में 8000 मीटर से ऊपर जो 41 दिवंगत पर्वतारोहियों के शरीर हैं उनमें से 10 शेरपा हैं। इससे नीचे तो अधिकांश शेरपा ही दफ़न हैं। 1953 के अभियान में भी यदि शिखर पर दो थे तो आधार पर 350 नेपाली–मुख्यतः शेरपा–जन ही थे।

शेरपाओं के प्रति जो नजरिया रहा, वही यहाँ की प्रकृति के प्रति भी रहा। पर्वतारोहण की ओट में गुप्तचरी होती रही है। अमेरिका ने तो अनेक हिमालयी शिखरों/ग्लेशियरों में घुसपैठ की है। यह सर्वविदित है कि 1965 में नन्दादेवी तथा 1967 में नन्दाकोट शिखरों के पास पर्वतारोहण भावना तथा उद्देश्यों को ताक में रख कर नाभिकीय यंत्र अमेरिकी सहयोग से रखे गये थे। इनसे जनित परमाणु प्रदूषण की शंका का अभी तक निदान नहीं हुआ है। इस अभियान में हमारे सरकारी पर्वतारोही शामिल थे। मजेदार बात यह है कि आई.एम.एफ. (भारतीय पर्वतारोहण संस्थान) के रिकार्ड में इस कारनामे की चर्चा नहीं है। इन यंत्रों के द्वारा चीनी परमाणु कार्यक्रमों पर नजर रखना मुख्य लक्ष्य था। इनमें से नन्दादेवी में ले जाया गया यंत्र बर्फीली खाई में कहीं फँस गया और अब तक नहीं ढूढा जा सका है। इस हेतु अनेक पैदल तथा हवाई सर्वेक्षण हो चुके हैं। दूसरा यंत्र एक साल बाद निकाल लिया गया था। ऐसा निश्चय ही पाकिस्तान तथा नेपाल के शिखरों में भी किया गया होगा। सच्चाई कभी न कभी जरुर उजागर होगी।

बताया जाता है कि पिछले 65 सालों में 50 टन से अधिक कूड़ा एवरेस्ट क्षेत्र में जमा हो गया है। इसमें काँच, पालीथीन, सिन्थेटिक सामग्री, धातु आदि सब है। ऐसी पद्धति विकसित नहीं हो सकी है, जिसमें कूड़ा निपटान की कोई सुव्यवस्था हो पाती। कभी–कभी फैशन के बतौर कूड़ा निपटान होता है। एक रिपोर्ट तो यहाँ तक कहती है कि 30 टन कूड़ा नीचे लाया जा चुका है और 75 पर्वतारोहियों के मृत शरीरों को भी। जो नया कूड़ा जमा होगा उसका क्या होगा स्पष्ट नहीं है। लवराज धरमसत्तू ने एवरेस्ट को साफ करने के अभियान की बेहतरीन शुरूआत की है। यह काम उसे एक जिम्मेदार पर्वतारोही बनाता है। वह शिखर से जीत के साथ मार्ग का कूढ़ा भी लाद लाता है। आज एवरेस्ट आरोहण एक उद्योग हो गया है और दुस्साहस नहीं कमाई इसका मूल मंत्र है। किसी भी उद्योग में प्रदूषण एक आवश्यक बुराई है और इसे गम्भीरता से नहीं लिया जाता है। 2003 में 45 में से कम से कम 10 पर्वतारोहण अभियान पूरी तरह व्यावसायिक थे। उनका आयोजन ही नफे के लिये हुआ था, नुकसान के लिए नहीं। अभी आरोहण शुल्क के रूप में 10 हजार डालर नेपाल सरकार और 5 हजार डालर चीन सरकार उनके क्षेत्र से जा रहे अभियानों से ले रही है, मगर निजी कम्पनियाँ स्वस्थ व्यक्ति को 65,000 डालर (30 लाख रुपया) में एवरेस्ट शिखर में ले जाने को उत्सुक हैं। इस नफे के लिये स्थानीय समाज तथा पर्यावरण को कीमत चुकानी ही पड़ेगी।

ISSN 2349-4905

हिलेरी इस मायने में अपवाद जरुर रहे कि उन्होंने शेरपाओं के लिये बहुत कुछ किया। स्कूल और अस्पताल बनाये। पुल तथा हवाई पट्टियाँ निर्मित कीं। कुछ मठों का पुनर्निर्माण किया। सागरमाथा राष्ट्रीय पार्क में वृक्षारोपण कराया। समग्र शेरपा क्षेत्र को विश्व मानचित्र पर स्थापित करने में उनका सर्वाधिक योगदान रहा। इसे वे अपना दायित्व मानते रहे। उनकी पत्नी तथा बेटी की 1975 में एक जहाज दुर्घटना में नेपाल में ही मृत्यु हुई थी। अनेक लोगों को उनके जीवन की यह त्रासदी पता नहीं है। एवरेस्ट क्षेत्र से उन्हें जो मान सम्मान मिला उसे उन्होंने अपने सामाजिक कार्यों द्वारा वहां के शेरपा समाज को लौटा दिया और सिद्ध किया कि एक महान पर्वतारोही एक महान मानव भी होता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कहा है कि एवरेस्ट में पर्वतारोहण अभियान नियंत्रित होने चाहिये। तेनजिंग ने भी शेरपा समाज तथा आम हिमालयवासी को उसका आत्म–विश्वास लौटाया। शेरपाओं की श्रम क्षमता, सम्वेदना, समर्पण तथा सृजनशीलता ने उन्हें पहले दर्जे के हिमालयवासी की हैसियत लगभग दे दी है। आधी सदी में वे निश्चय ही आगे बढ़े हैं। पर आज भी आम हिमालयवासी के प्रश्न अनसुलझे ही हैं।

 ISSN 2349-4905

बहरूपी गाँधी : भित्तिचित्रों का अध्ययन

विनय पटेल

महात्मा गाँधी का जन्म सन 2 अक्तूबर 1869 में गुजरात के पोरबंदर में हुआ था। गाँधी एक धार्मिक व्यक्ति थे। इनकी पत्नी का नाम कस्तूरबा गाँधी था और इनके चार पुत्र इस प्रकार हैं– हरिलाल, मणिलाल, रामदास और देवदास। गाँधी ने भारत के आजादी में योगदान दिया और कई आंदोलनों का नेतृत्व भी किया जिनमें से कुछ आन्दोलन सफल रहे और कुछ असफल भी रहे थे।

गाँधी अध्यात्म में प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, उन्होंने कई प्रयोग किए हैं लेकिन ज्यादातर अपने आध्यात्मिक प्रयोगों को महिलाओं पर ही किया है, जो सर्वविदित है। इन्हीं प्रयोगों के कारण गाँधी बापू से महात्मा तक की ख्याति प्राप्त की है। गाँधी ने अपने जीवन यात्रा की शुरुआत इसी सत्य के प्रयोगों से ही की जो उनके बहुरूपी (जो कई रूपों को दर्शाता है प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष) होने को दर्शाता है।

गाँधी के बहुरूपी विचारों को दिखाने व प्रसारित करने के लिए कई किताबें, मूर्तियाँ, शिक्षण संस्थान, डाक टिकट एवं संग्रहालयों का निर्माण भी किया गया है। गाँधी के बहुरूपी विचारों को संग्रहालयों ने नये आयाम दिए हैं।

गाँधी के चित्र भारतीय औपनिवेशिक छविचित्रों को कल्पित करते हैं, यह चित्र औपनिवेशिक विचारों और उनकी पृष्ठभूमि तथा राजनैतिक विचारों के गूढ़ रहस्यों की ओर भी संकेत करते हैं, जिन्हें समझने और देखने की तार्किक चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि ये चित्र आज और कल के परिवेश में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारों को परिलक्षित करते हुए भविष्य को प्रदर्शित करते हैं।

गाँधीस्मृति संग्रहालय, गाँधी की शताब्दी के अवसर पर (1969) अस्तित्व में आया। गाँधी के जन्मशताब्दी के अवसर पर एक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी आयोजित की गयी थी, जिसे छः भागों में बाँटा गया था। इस प्रदर्शनी की स्थापना में तेरह भारतीय राज्यों और सात अन्य देशों ने सहयोग किया और अत्यंत सौम्यरूप में गाँधीवादी दर्शन को प्रस्तुत किया गया। इस प्रदर्शनी का मुख्य उद्देश्य आधुनिक विश्व और राष्ट्र के जीवन को प्रमाणित करने की पृष्ठभूमि में गाँधी के सन्देशों सत्य और अहिंसा के सिद्धांतो की रचना की गयी है।

संग्रहालय क्या है और क्यों है व इसकी स्थापना किस लक्ष्य पूर्ति हेतु की जाती है? संग्रहालय में किसी व्यक्ति विशेष को दर्शाने हेतु जिस दृश्यात्मकता के विचारों को दर्शाया जाता है क्या उसे उसी रूप में देखा जाना चाहिए या उसके परोक्ष भी विचारों के तत्थ्यों की खोज की जानी चाहिए कि संग्रहालय एक भवन है जिसमें अनोखे या विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का संग्रहण और विचारों का संग्रह होता है।

गाँधीदर्शन समिति में एक संग्रहालय भी स्थित है जिसमें विस्तृत विवरण के साथ दीवारों पर कई भित्तिचित्र उकेरे गये हैं। इन चित्रों में गाँधी की जन्म शताब्दी तथा बाद में विश्व के अनेक देशों द्वारा जारी किये गये डाक टिकटों को प्रदर्शित किया

ISSN 2349-4905

गया है। दूसरी तरफ उनको भेजे गये कुछ पत्रों को दीवारों में चस्पा किया गया हैं। सन् 1994 में 150वीं जयंती के अवसर पर इस परिसर को "अंतर्राष्ट्रीय गाँधी अध्ययन एवं शांति अनुसन्धान केंद्र" का स्वरूप दे दिया गया।

यहाँ पर गाँधी तथा उनसे सम्बधित विषयों पर शोधकर्ताओं के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री को उपलब्ध कराया गया है। इस परिसर में राष्ट्रीय इंदिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना भी की गयी है जिसके अंतर्गत व्यवसायिक पाठयक्रमों को मान्यता दी गयी है। यहाँ पर गरीब बच्चों को मिट्टी की कला, सिलाई–कढ़ाई, कम्प्यूटर, कताई–बुनाई, नृत्य, स्वांग आदि सृजनात्मक कार्य सिखाये जाते हैं।

वर्तमान समय में होने वाली समस्याएँ जैसे, बेरोजगारी की समस्या, बिजली की कमी, पर्यावरण प्रदूषण, महिलाओं की सुरक्षा व भ्रूणहत्या, बाल यौन शोषण, बाल वेश्यावृति से सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यान भी आयोजित किये जाते हैं। इस संस्था का उद्देश्य बच्चों का सर्वागीण विकास कर आत्मनिर्भर बनाना है। यह समिति बच्चों के लिए पत्र और पत्रिकाएँ भी निकालती है "द यमुना" मुख्य समाचार पत्रिका है। इस संस्था से दिल्ली के कई विद्यालय जुड़े हुए है। इस संस्था की कई शाखाएँ देश विदेश में फैली हुई है उदाहरण के तौर पर इटली, सिंगापुर, इम्फाल, न्यूयार्क, काबुल, चंडीगढ़ आदि।

इस संग्रहालय को चुनने का कारण यह है कि यह अन्य गाँधी संग्रहालयों में अपनी विशेष पहचान को दर्शाता है। यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण बताया व दिखाया जाता है जबकि गाँधी के और भी संग्रहालय बनाये गये हैं। जो गाँधी के जीवन से सम्बन्धित विचारों कलात्मक, संस्कृति, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्म व पुरातन ज्ञान को बताते हैं।

भितिचित्र– दीवारों पर बने चित्रों को भितिचित्र कहते हैं। भित्तिचित्रों का महत्त्व प्रागैतिहासिक काल से ही रहा है। पहले भित्ति पर चित्रों का निर्माण मनोरंजन के लिए किया जाता था किन्तु समय परिवर्तन के साथ विचारों में भी परिवर्तन हुआ है, जो आज के वर्तमान समय में इन भित्तिचित्रों के माध्यम में देखे जा सकते हैं। आज विषय वस्तु मनोरंजन हेतु नहीं बल्कि भौगोलिक, सांस्कृतिक, वैचारिक तथा राजनैतिक परिवर्तन को प्रस्तुत करता है, जिसका सादृश्य रूप इन संग्रहालयों के माध्यम से देखा जा सकता है।

गाँधी स्मृति संग्रहालय में सन 1857 के आन्दोलन से लेकर 1947 तक स्वतंत्रता संग्राम की बहुमूल्य स्मृतियों को संग्रहित किया गया है। भारत की स्वाधीनता में गाँधी के विभिन्न कार्यों को ही सर्वोपरि रखते हुए उनके छायाचित्र को दीवारों पर कालक्रमानुसार प्रदर्शित किया गया है। इसमें गाँधी के द्वारा किए गये शैक्षणिक, अध्यात्मिक और दृश्यात्मक पहलुओं को परिभाषित किया गया है। इस संग्रहालय में गाँधी से सम्बन्धित छायाचित्र, मूर्तियाँ, तैलचित्र, भितिचित्र तथा शिलालेख स्मृतिचिन्ह के रूप में रखे गये हैं।

गाँधी द्वारा किये गये आंदोलनों को भित्तिचित्रों के द्वारा दृश्यात्मक रूप से सादृश्यात्मक दिखाया गया है। इन चित्रों को बनाने की परिकल्पना में अनिल सेन गुप्त जोकि गाँधी दर्शन के अभिरक्षक भी रह चुके थे उन्हीं के निरीक्षण में, कलाकार वीरेन पाल तथा हेना चक्रवर्ती के नेतृत्व के अंतर्गत किया गया। भित्तिचित्रों में प्रथम चित्र में आजादी के लिए संघर्षशील घटनाओं को समग्र रूप में एकत्रित कर पैनलचित्र के रूप में अलग–अलग ढंग से संयोजित कर बनाया गया है।

इन भित्तिचित्रों की शृंखला में प्रथम चित्र में गाँधी के आगमन के समय (1919–1920) के कालक्रम को चित्रित किया गया है। जब भारत गुलाम था और

 ISSN 2349-4905

संघर्ष कर रहा था तब लोग आजादी के लिए आवाज उठा रहे थे उस समय की स्थिति की गाथा को परिलक्षित किया है। इस चित्र में स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े हुए लोगों के समुदाय व जनमानस को उसी रूप में सम्मलित करते हुए कलाकार ने गाँधी के जीवन से सम्बन्धित होने वाले आंदोलनों की घटनाओं को एक साथ दिखाने का प्रयास किया है। चित्र के अग्रभाग में सामने की तरफ गाँधी को चरखा चलाते हुए सूत कातते हुए दिखाया गया है। गाँधी को सम्मुख स्थिति में दिखाने का क्या कारण हो सकता है? इसके कई कारण हो सकते हैं किन्तु कलाकार के द्वारा गाँधी को सम्मुख दिखाया जाना कलाकार की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति नहीं बल्कि प्रचलित परम्परागत संस्कृति के रूप को दिखाता है, परन्तु दर्शक उसे किसी और रूप में समझता है।

यह चित्र लोगों के हृदय व मानस पटल में गाँधी के लिए प्रेम व सम्मान की भावना को जागृत करे इस प्रकार से चित्रित किए गये हैं। क्या गाँधी को इस तरह से दिखाने के लिए कलाकार को दिशा–निर्देश दिया जाता है। उस संस्था, संगठन या समिति द्वारा या कलाकार को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्ति के लिए मुक्तकर दिया जाता है? क्या वास्तव में इसमें कलाकार की सोच है या कलाकार के द्वारा समिति अपने विचारों का प्रदर्शन करती है। ये भित्तिचित्र कई ऐसे विचारों को जीवित करते हैं जो इन चित्रों के पीछे दीवारों में दबा दिए जाते हैं जिन्हें समझने के लिए अग्रभूमि से पृष्ठभूमि की ओर जाने का संकेत भी करते हैं।

प्रथम चित्र– इस पैनल में बने चित्रों में कलाकार ने एक कथात्मक रूप को व्याख्यित कर, संघर्षरत प्रगतिशील रूप को दिखाने का प्रयास किया है। गाँधी को सम्मुख दिखाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि गाँधी सब को एक सूत्र में बांधने का प्रयास कर कुटीर उद्योग को बढ़ावा देने का प्रयास किया है जिसके प्रतीक रूप में चरखा को निर्मित किया गया किन्तु कलाकार ने गाँधी को आदर्श की तरह नहीं बल्कि चरखा को भारतीय आदर्श रूप में प्रस्तुत कर दिखाया है, जो शांति और सौहार्द की निरंतर गति को दर्शाता है किन्तु दर्शक चरखा और गाँधी को आजादी के प्रतीक के एक मुख्य कारक के ही रूप में देखता है।

गाँधी क्रमशः शारीरिक रूप से बहुत ही कमजोर और दुर्बल थे, जिसके कारण उन्होंने सन्यासी वेशभूषा और नीतियों से अपनी दुर्बलता को छुपाने और नकल करने की प्रवृति को विकसित कर चरखे को एक माध्यम के रूप में प्रयोग करने का प्रयास किया, लेकिन इसे एक अनोखे ढंग से प्रस्तुत किया गया कि कमियों को भी गुणों की तरह दिखाया जा सके। इसमें कलाकार ने गाँधी को प्रतीक रूप में बनाकर विचारों को सशक्त रूप में दिखाया। एक तरफ सामने गाँधी को सूत कातते हुए तो पीछे की तरफ विभिन्न प्रकार की घटनाओं को घटित होते हुए दिखाया है।

घटनाएँ बीते हुए परिवर्तनों को संबोधित करती हैं किन्तु आगामी घटनाओं की सूचना की तरफ इंगित भी करती हैं। यहाँ पर गाँधी को उन परिस्थितियों के बीच नहीं दिखाया गया जिन परिस्थितियों से समाज के लोग जूझ रहे थे, बल्कि गाँधी की अलग पहचान को दर्शाता है जो लोगों के लिए न थी बल्कि स्वयं की पहचान निर्मिति हेतु थी। इन दृश्यों में गाँधी को समाज में हो रही गतिविधियों में कोई दिलचस्पी नहीं है, परंतु गाँधी को सामाजिक रूप में दिखाया गया क्योंकि कलाकार ने इस तरह से चित्र की निर्मीती की है कि गाँधी सामाजिक न होते हुए भी गाँधी के सामाजिक रूप को प्रतिबिंबित करे।

दूसरा चित्र–इस चित्र में कलाकार ने गाँधी को एक विचारक की तरह गंभीर चिंतक के रूप में प्रस्तुत किया है। जिस तरह से गाँधी के सिर के पीछे

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

ISSN 2349-4905

प्रकाशपुंज को दिखाया गया है उससे ज्ञात होता है कि गाँधी एक साधारण मानव नहीं थे। उन्हें औरों से श्रेष्ठ तथा देव तुल्य दिखाने की कोशिश की गयी है। कलाकार के द्वारा गाँधी को इस तरह से दिखाया जाना और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जिस तरह से भारतीय देवता बहुरूपी होते हैं उसी प्रकार से गाँधी भी हो सकते हैं, क्योंकि रूप और प्रतिरूप में बहुत ही अंतर होता है। इसी दृश्य में गरीब, मजबूर, पीड़ित व असहाय लोगों के साथ अमानवीयता के व्यवहार को भी चित्रित किया गया है। उनके अधिकारों को खत्मकर उनका शरीरिक व मानसिक शोषण किया जा रहा है। उस घटना को दृश्यांकित कर समाज में जातिगत, भेदभाव से ग्रसित सम्पूर्ण कुरीतियों को भी अंकित करने की कोशिश की गयी है।

इसके पीछे के दृश्यों में ग्रामीण जीवन को कोलाहलपूर्वक चित्रित किया गया है। चित्र में बायीं तरफ एक ग्रामीण महिला को चरखा चलाते हुए दिखाया गया है, जो कुटीर उद्योग का समाज में उसके महत्व को दर्शाता है। उद्योग या व्यवसाय समाज में नई चेतना का सूचक बने, ऐसी परिकल्पना की गयी है।

तृतीय चित्र–हरिजन उत्थान, इस घटना चित्रण में चित्रकार ने उस दृश्य को अंकित किया है जब छुआछूत जैसे घृणित व्यवहारों के लिए लोगों को फटकारा जाता और घोर आपत्ति की जा रही थी, जब उच्च वर्ग के लोग निचली व पिछड़ी जाति के लोगों का मानसिक व शारीरिक शोषण कर उनको प्रताड़ित करते और उनके प्रति अमानवीयता का भेदभाव किया करते थे। छुआछूत व् सामाजिक कुरितियों को खत्म करने के विचार से गाँधी ने एक आन्दोलन चलाया था, उसी का रूप को ऐतिहासिक रूप में चित्रण किया गया है।

इसी चित्र के पृष्ठभूमि में एक कुएँ को जिस पर कुछ ग्रामीण महिलाओं को पानी का मटका लिए हुए दिखाया गया है। इसमें जो व्यक्ति कुए पर खड़े हैं, व कुछ लोगों को दिखाया गया है, जिन्हें कुएं से पानी भरने नहीं दिया जाता था। बगल में कुछ लोगों के समुदाय को बैठे हुए दिखाया गया है और गाँधी उन लोगों को सम्बोधित कर रहे हैं। ठीक उसी के नीचे बगल में कुछ पीड़ित लोगों को भी उनकी दयनीय स्थिति के साथ अंकित किया है जिसमें भुखमरी और अकाल के समय भारत देश की क्या स्थिति थी, उसे दिखाने की चेष्टा की गयी है। इसमें कलाकार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि गाँधी ने इस समस्या के प्रति लोगों को जागरूक करने का प्रयास किया है।

यह दृश्य उस समय के निर्दयी समाज का अंकन है। वह समाज कितना निर्दयी था जो असहाय लोगों पर अत्याचार करता था, गाँधी उन लोगों की दयनीय स्थिति को देखकर क्रोधित थे किन्तु उनको मध्य में ही छोड़ दिया इसका उदाहरण अम्बेडकर के लेखों में भी मिलता है। चित्र के मध्य में गाँधी को खड़े हुए बाएं हाथ में लाठी लिए व दाहिने हाथ में एक कटोरा लिए हांथों को ऊपर की ओर फैलाये हुए दिखाया है। कुछ हाथों के समूह को उस पात्र में कुछ डालते हुए चित्रित किया है। इसमें चित्रकार ने विश्व–बंधुत्व की भावना से ओतप्रोत होकर एकता की शक्ति को दिखाने का प्रयास किया है। अंततः यह भी कहा जा सकता है कि सामाजिक बुराइयों को इस कटोरे में डाल दो और सब के साथ समानता का व्यवहार करो। यहाँ पर कलाकार में गाँधी को साईंबाबा के रूप में दिखाया है। गाँधी के पीछे कुछ मलिन बस्ती या झोपड़ियों को दिखाया गया है। बाएं तरफ मंदिर व मस्जिदों को तथा कुछ लोगों के समूह को सीढ़ियों से चढ़ते हुए दिखाया गया है किन्तु मस्जिद को अकेला ही दिखाया गया है।

इस चित्र में गाँधी के इस रूप में कल्पना कर

 ISSN 2349-4905

कलाकार गाँधी को सामान्य जन के और करीब लाकर दिखाने का प्रयत्न किया है, जबकि गाँधी इतने सामान्य रूप में कभी लोगों के समीप थे ही नहीं।

इस तरह से आंका जा सकता है कि मस्जिद को अकेला दिखाकर क्या धर्म को भी राजनिती से जोड़ा गया है या मुस्लिम समुदाय को अलग किया गया। मंदिर में अछूत लोगों का प्रवेश वर्जित है यह भी चित्रों के माध्यम से दिखाने की कोशिश की गयी है। गाँधी को बढ़ा–चढ़ा कर दिखाने के लिए चारों तरफ गाँधी को विभिन्न कार्य–कलापों में लिप्त दिखाया गया है, जिससे की देखने वाला दर्शक गाँधी को महान जनसेवक और हृदयस्पर्शी समझे तथा गाँधीवादी विचारधारा को चिरकाल तक अपने मानसिक पटल पर उस छवि को चित्रित रूप में जीवित रख सके।

चतुर्थ चित्र– यह घटना 30 जनवरी 1948 की है जब गाँधी की हत्या हुई थी। इसमें चित्रकार ने एक तरफ आजादी को दर्शाया है तो दूसरी तरफ गाँधी के मृत शरीर को तिरंगे में लिपटे हुए चारों तरफ लोगों की भीड़ के समूहों के साथ दिखाया है। पूरे भारतवर्ष में शोकमग्न स्थिति को दर्शाया है। क्या कारण है कि एक तरफ आजाद भारत को तिरंगे के माध्यम से और दूसरी तरफ गाँधी के मृत शरीर को तिरंगे में लिपटा हुआ दिखाया है?

देश को आज़ाद कराने में गाँधी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी या गाँधी को देश का एक महान नेता माना जाता रहा होगा। इसमें गाँधी को पिरामिड (त्रिकोणीय) रूप में तीनो कोनों पर और आधारशिला के स्वरूप में गाँधी की व्याख्या की गयी है। पिरामिड का अर्थ होता है पृथ्वी का केंद्र बिंदु और कलाकार ने मिश्र के मान्यतानुसार पुनर्जन्म लेना और फिर से अपनी सत्ता को कायम करना उससे प्रभावित हो कर पिरामिड के त्रिकोणीय रूप को बनाया है।

कलाकार ने इस चित्र के द्वारा गाँधी की भावना को प्रकट करने की कोशिश की है कि गाँधी का फिर से जन्म होगा और अपने अधूरे विचारों को फिर से पूरा करेंगे। गाँधी को ग्रामीण परिवेश के साथ बनाया गया है क्योंकि गाँधी के विचारों को जन सामान्य से जोड़ा जाता था, किन्तु बहुत से चित्रों में गाँधी को लोगों की भीड़ से अलग बनाया गया है। यह गाँधी के किस सोच को दर्शाता है जो एक विचारनीय प्रश्न है जिसे बहुत ही कम देखा व सुना जा सकता है।

चित्र के केंद्र में गाँधी को और बगल में दो स्त्रियों के कन्धों पर हाथ को रखे दिखाया है। क्या यह गाँधी के विलासिता के जीवन को दर्शाता या स्त्रियों के प्रति गाँधी के प्रेम प्रसंग को, या स्त्रियों के द्वारा गाँधी को दी जाने वाली सहानुभूति है या गाँधी ने स्त्रियों को समानता का अधिकार देने का प्रयास किया जिससे स्त्रियाँ भी पुरूषों के साथ कंधे से कन्धा मिलाकर चल सकती हैं?

अक्सर ऐसा कहा जाता है कि गाँधी ने महिलाओं के सामान अधिकार की बात की है किन्तु इस चित्र में ऐसा प्रतीत होता है कि महिलाओं ने स्वयं ही यह स्पष्ट किया है की महिलाएं पुरुषों के साथ समानता का व्यवहार करती हैं और वह ये संदेश देना चाहती हैं कि पुरुष भी उनके साथ समानता का व्यवहार करे।

जिस प्रकार से पुरुष अपने अस्तित्व को रखता है, उसी प्रकार उनका भी अस्तित्व है। उन्हें भी आजादी से जीने का अधिकार है, पुरुषों की तरह किन्तु यह भी हो सकता है कि कलाकार ने गाँधी के जीवन से जुड़ी विलासिता के जीवन को इसमें समावेश कर यह दृश्य प्रस्तुत किया हो। पहले मंदिर को फिर मस्जिद को तथा मस्जिद के बगल संसद भवन को और उसके ऊपर तिरंगे को लहराता हुआ बनाया गया है। तिरंगा दिखाया जाना राष्ट्र का प्रबोधन है।

ISSN 2349-4905

अब देश आजाद हो चुका है जहाँ एक तरफ भारत स्वतंत्र है वहीं दूसरी तरफ अलग धर्मों के लिए मैत्रेयी भाव को दिखाने का प्रयास किया है। जिस तरह से बुद्ध लोगों में ज्ञान का प्रचार–प्रसार करते थे उसी प्रकार गाँधी को भी लोगों के बीच ज्ञान का प्रचार करते हुए दिखाया गया है कि सभी धर्म समान हैं और उनमें अपनी स्वतंत्रता में समानता का आधिकार है।

पंचम चित्र– इस चित्र में भारत छोड़ो आन्दोलन 1942 'करो या मरो' की घटना को दिखाया गया है। जब पूरा देश अंग्रेजों की गुलामी से त्रस्त था और करो या मरो की क्रांति फैल गयी थी। सन 1942 में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमे कांग्रेस के कार्यकर्ताओ ने गाँधी के विचारों का समर्थन किया। कलाकार ने गाँधी को बीच में ठीक राजनैतिक नेताओं के ऊपर दिखाया है क्योंकि गाँधी कांग्रेस के अग्रणी नेता थे। गाँधी के पीछे कैदखाने को अगल–बगल व अंग्रेजों को हुकुमत करते हुए उनकी शासन व्यवस्था को दिखाया है। यहाँ पर एक प्रश्न चिन्हित होता है कि यदि गाँधी सभी के साथ समानता का व्यवहार रखते हैं तो उन्होंने सरदार वल्लभ भाई पटेल जिन्हें प्रधानमंत्री के पद के लिए चुना गया था के साथ समानता का व्यवहार क्यों नहीं किया।

उपसंहार

भित्तिचित्र भी चित्रकला की ही तरह होते हैं अंतर इतना है कि ये दीवारों या भित्तियों पर बनाये जाते हैं। ये भित्तिचित्र भी समय बीतने के साथ एक पुरालेख बन जाते हैं जो बाद में उन बने हुए चित्रों की गाथा को बताते हैं। गाँधी के इन भित्तिचित्रों का निर्माण इसी राजनैतिक चेतना व सामाजिक प्रभाव को दिखाने के तहत निर्मित किये गये।

गाँधीवादी विचारों से लोग हमेशा प्रभावित रहे इसलिए इस संग्रहालय की स्थापना की गयी और इसका प्रचार प्रसार व महिमा मण्डन किया गया। गाँधी के विचारों के अनुसार पूँजी का प्रयोग समाज की स्थिति को सुधारने के लिए करना चाहिए वो कभी नहीं चाहते थे कि उनके लिए बहुत से संग्रहालय बनाये जाये और करोड़ों की पूँजी उनके नाम पर खर्च की जाए लेकिन यह विचारनीय है कि गाँधी के ही नाम पर लगभग सभी जगह कई संग्रहालय या भवन बनाये गये हैं। जिसके लिए करोंड़ों के फंड दिए जाते हैं, लोगों के सुधार के लिए लेकिन समाज तथा लोगों की स्थिति, शिक्षा आज भी दयनीय ही है। यह संग्राहलय और भित्तिचित्र भी इसी बात का संकेत देते हैं कि कथनी और करनी में कितनी समानता है और इसको देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति के रूप में किस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है।

सन्दर्भ

- *क्रांति से गाँधी राज से स्वराज* (2006), वार्षिक रिपोर्ट, गाँधी दर्शन समिति, नई दिल्ली।
- मोहनदास करमचंद गाँधी अनुवाद काशिनाथ त्रिवेदी, *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा*, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद।
- www.gandhismriti.gov.in & www.gandhismriti.nic.in
- राजा राममोहन राय से लेकर भारत की आजादी एवं महात्मा गाँधी के निर्वाण तक का भित्तिचित्र विवरण : भारतीय स्वतंत्रता संग्रामय प्रकाशन, गाँधी स्मृति और गाँधी दर्शन समिती, राजघाट, नई दिल्ली।
- महात्मा गाँधी (2009), अनु. काशीनाथ त्रिवेदी सत्य का प्रयोग अथवा आत्मकथा नवजीवन, प्रकाशनः प्रकाश मंदिर अहमदाबाद।

ISSN 2349-4905

चित्र संख्या (1)

चित्र संख्या (2)

चित्र संख्या (3)

चित्र संख्या (4)

चित्र संख्या (5)

ISSN 2349-4905

अंग जनपद की लोक-गाथा बिहुला विषहरी एवं मंजूषा चित्रकला

शिव शंकर सिंह पारिजात

भारत जैसे देश में, जहाँ जनसंख्या का एक बड़ा भाग अशिक्षित है और जहाँ आज भी जनजातियां विभिन्न हिस्सों में प्रवास करती हैं, लिखित ऐतिहासिक परम्परा का न होना अत्यंत स्वभाविक है। अतएव आज वाचिक एवं इस तरह की अन्य परम्पराओं पर समुचित ध्यान देने की जरूरत है।[1] भारत की वाचिक परम्पराओं में यत्न के साथ संरक्षित वाचिक परम्पराओं और इनकी तुलना में स्वतंत्र वाचिक परम्पराओं के बीच एक विभाजक रेखा रही है जो कि रचनाओं के साहित्यिक स्वरूप लेने की प्रक्रिया में भी परिलक्षित होती हैं। यत्न के साथ ये संरक्षित वाचिक परम्पराएं अग्रणी वाचिक परम्पराओं का स्वरूप ग्रहण कर परवर्ती शताब्दियों में वैदिक साहित्य सरीखें लिखित रूप में लिप्यांतरित हुईं।[2] कालक्रम में स्वतंत्र वाचिक परम्पराओं ने भी 'रामायण' और 'महाभारत' के रूप में अग्रणी वाचिक परम्पराओं का स्वरूप ग्रहण किया। किंतु सामान्य वाचिक परम्पराओं को एकल समरूप प्रणाली के तौर पर नहीं लिया जा सकता है।[3] फलतः मिथक किसी कालक्रम के द्योतक नहीं होते, किंतु ये किसी सामाजिक संदर्भ में घटित घटनाओं के अभिलेख जरूर होते हैं।[4]

लोकगाथा के विषय अत्यंत विस्तृत होते हैं, जिसमें किसी सांस्कृतिक समूह के सभी मिथक, गाथा, लोककथा, फैकड़े, लोकोक्तियाँ और अंधविश्वास शामिल होते हैं।[5] किसी क्षेत्र की लोकगाथा तथा लोककला का अध्ययन एक रोचक विषय है। आज भाषा और ज्ञान के शास्त्र इस बात में सक्षम हैं कि मिथकों के आवरण में लिपटे इतिहास तक पहुंच सकें। मिथक–पूजा से हटकर मिथकों में इतिहास के सारतत्त्व को जानने–समझने से अपने अतीत और भविष्य के प्रति समाज का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर बेहतर बन सकेगा।[6]

प्राचीन काल में बिहार के भागलपुर जिले की प्रसिद्धि अंग के नाम से थी जो सोलह महाजनपदों में एक था। बुद्धकाल के प्रारम्भ में पूर्वी भारत के इस महत्त्वपूर्ण जनपद और मगध के बीच में चम्पा नदी (आधुनिक चांदन) बहती थी।[7] 'चाम्पेय जातक' के अनुसार एक समय में मगध समुद्र तक विस्तारित अंग राज्य के अधीनस्थ था।[8] अंग के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख 'अथर्ववेद' में मिलता है।[9] 'रामायण' की कथानुसार यहाँ भगवान् शिव के त्रिनेत्र की ज्वाला से भस्मीभूत होकर कामदेव के अपने शरीर अर्थात् अंग त्यागने के कारण इसका नाम 'अंग' पड़ा।[9] अंग के राजा लेमपाद अयोध्या नरेश दशरथ के समकालीन थे। अंग के साथ महाभारतकालीन योद्धा कर्ण का भी नाम जुड़ा है जिसे दुर्योधन ने यहाँ का राजा बनाया था।[10] अंग की राजधानी चम्पा थी जिसका पाली, प्राकृत व संस्कृत ग्रंथों में उल्लेख मिलता

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

है।[11] 'दीघनिकाय' के अनुसार भगवान् बुद्ध चम्पा के गग्गरा पुष्करिणी में अवस्थान किये थे।[12] बारहवें जैन तीर्थंकार बासुपूज्य की पंचकल्याणक–भूमि रही चम्पा का भगवान् महावीर ने भी परिभ्रमण किया था।[13]

सदियों से लोक–कंठों में विद्यमान 'बिहुला–विषहरी' अंगभूमि भागलपुर की एक प्रमुख लोक–गाथा है जो भगवान् शंकर की मानस–पुत्री विषहरी और चम्पा के व्यापारी चाँद सौदागर की पुत्रवधू बिहुला की कथा पर आधारित है। 'विषहरी' के नाम से सम्बोधित देवी मनसा विषहर (विष को हरने वाली), नित्य और पद्मावती भी कहलाती हैं।[14] मनसा की मान्यता सर्पों की देवी के रूप में है।[15] गाथा में चांदो सौदागर को विश्व का सबसे बड़ा शिव–भक्त बताया गया है। मनसा ने जब अपने पिता भगवान् शंकर के समक्ष पृथ्वी–लोक में अपने पूजित होने की इच्छा जताती है, तो वे उससे कहते हैं कि शिव–भक्त चांदो सौदागर द्वारा प्रथमतः पूजित होने पर ही ऐसा हो सकेगा।[16]

किंतु चांदो सौदागर भगवान् शंकर को छोड़ अन्य किसी भी देवी–देवता की पूजा को तैयार नहीं होता है। फलतः कुपित मनसा चांदो की व्यापारिक नौकाओं को गंगा में डूबोने के साथ उसकी समस्त धन–सम्पदा विनष्ट कर डालती है। अंततः उसके प्रकोप से चांदो के छोटे पुत्र बाला लखंदर की मृत्यु सुहागरात के ही दिन सर्प–दंश से हो जाती है। किंतु बाला की परम् तेजस्विनी बिहुला अपने मृत पति का जीवन पुनः प्राप्त करने की ठानती है और उसके शव को एक नौकानुमा मंजूषा पर रखकर चंपानगरी की गंगा–मार्ग से प्रस्थान करती है। रास्ते की समस्त बाधाओं को झेलती हुई बिहुला अपने सतीत्व के बल पर सदेह स्वर्ग पहुंच भगवान् इन्द्र को प्रसन्न करती है और अपने पति का जीवन व ससुर की खोई हुई धन–सम्पदा को पुनप्राप्त करती है। अपनी खोई हुई धन–सम्पदा व मृत पुत्र को जीवित देख प्रसन्न शिव–भक्त चांदो सौदागर बिहुला के अनुरोध पर देवी मनसा विषहरी की पूजा को तैयार हो जाता है। और, तब से पृथ्वीलोक में देवी मनसा की पूजा की परम्परा शुरू हो जाती जो आजतक समस्त अंग जनपद में अनुष्ठानपूर्वक मनायी जाती है जो समस्त अंग जनपद की लोक–आस्था की प्रतीक है।[17]

वस्तुतः यह गाथा शैव–मत पर शाक्त–मत के वर्चस्व को इंगित करती है। उन दिनों अंग–क्षेत्र में शैव–मत का बोलबाला था, जबकि पड़ोसी बंग–क्षेत्र में शाक्त–मत का। कालांतर में दोनों मतों के बीच हुए वर्चस्व के संघर्ष का पटाक्षेप समन्वय के साथ हुआ। इसी दौर में बिहुला–विषहरी जैसी लोक–गाथाओं ने जन्म लिया जिसमें एक भौव मतावलम्बी चांदो सौदागर एक भक्त देवी मनसा विषहरी के पूजन को बाध्य होता है।[18]

यहाँ वृहत् पैमाने पर सर्पों की देवी मनसा के पूजन के कारणों में एक सर्प–दंश से मुक्ति की कामना भी है। बरसात के मौसम में होने वाली इस पूजा के समय यहाँ बहुतायत में सर्प निकलते हैं। भौगोलिक रूप से अति पूर्वी मध्य गंगा–घाटी में स्थित मानसून जंगलों, झाड़ियों व दलदली भूमि से भरे अंग के लोगों को अक्सर नाना प्रकार के सर्पों का सामना करना पड़ता है जो चाम्पेय जातक की कथाओं में भी वर्णित है। एक अध्ययन के अनुसार भागलपुर प्रक्षेत्र में छह विषैले और 12 गैर विषैले प्रजातियों के सांप पाये जाते हैं।[19]

जहाँ बिहुला–विषहरी अंग जनपद की प्रमुख लोक–गाथा है, मंजूषा–कला यहाँ की मुख्य लोक चित्र–कला है। बिहुला के मंजूषा पर अपने मृत पति का भाव स्वर्गलोक ले जाकर उसके प्राण पुर्नप्राप्त करने के कारण यहाँ के लोगों की मंजूषा के प्रति विशेष आस्था है। यहाँ की महिलाएं विषहरी पूजा के अवसर

 ISSN 2349-4905

पर श्रद्धापूर्वक अपने परिजनों की मंगल–कामना हेतु पान–प्रसाद से युक्त 'डलिया' के साथ मंजूषा की प्रतिकृति देवी को अर्पित करती हैं जिसे पूजनोपरांत गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता है। ऐतिहासिक रूप से बिहार की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण मधुबनी लोककला के समकक्ष अमूमन बक्से के आकारवाली मंजूषा 'विषहरी पूजा' के अवसर पर कागज, शोला, सनाठी आदि से बनायी जाती हैं जिनपर गाथा में वर्णित घटनाओं व पात्रों के अनुरूप विभिन्न अनुष्ठानिक आकृतियां उकेरी जाती हैं।

कालक्रम में अंग की इस लोक–कला ने एक विधा का स्वरूप ले लिया जिसकी प्रसिद्धि आज मंजूषा चित्रकला के नाम से हो गयी है। मंजूषा चित्रकला में उकेरे जानेवाले मुख्य पात्रों में मनसा विषहरी, बिहुला, बाला लखंदर, मनियार नाग, चांदो सौदागर, नेतुला धोबिन, सोनिका, टुन्नी राक्षसी सहित गरूड़, नेवला, बिलार, चांद–सूरज आदि के चित्र होते हैं।[20]

पूर्व में ये चित्राकृतियां मालाकार और कुम्भकार जातियों के लोगों के द्वारा मंजूषा तथा पूजा–अनुष्ठान में प्रयुक्त होनेवाले बर्तनों, यथा घट, कलश आदि पर बनाये जाते थे। 1931–48 में ब्रिटिश शासन के दौरान एक अंग्रेज आईसीएस अधिकारी डब्लू जी आर्चर ने पहली बार इस लोककला को बाहरी दुनिया कि सामने लाया और चुनिंदा मंजूषा चित्रों को लंदन के इंडिया ऑफिस लाईब्रेरी के आर्चर कलेक्शन में प्रदर्शित किया जिसके उपरांत यह लोक–कला विशेष चर्चा में आयी।[21] भारतीय कला विशेषज्ञ स्टेला क्रेमरिश इसे 'रिचुअल पेन्टिंग' मानती हैं, जबकि अंग क्षेत्र के कला मर्मज्ञ डॉ. श्यामसुन्दर घोष इसे रिचुअल पेन्टिंग की बजाय 'स्क्रैपचुअल पेन्टिंग' ढाँचा चित्र कहना अधिक उचित समझते हैं क्योंकि इसमें बाँस के बने कास्केट या आधारों का प्रमुखता से उपयोग किया जाता था।[22] इसकी मुख्य विशेषताओं में सीधी मोटी लकीरों की बहुतायत, अंग्रेजी के एक्स आकृति की रेखकीय मानवीय आकृतियां, आधार रंगों के रूप में गुलाबी, पीला, हरे, नारंगी और आकाशी रंगों के प्रयोग और विशिष्ट आकर्षक बार्डरवाली रंग–बिरंगी आड़ी–तिरछी पत्तियां, तिरछी रेखाओं से बने सीकड़, मेहराब आदि शामिल हैं।[23]

समय के अंतराल में आधुनिक कला के प्रभाव, बढ़ती पहचान व व्यवसायिक मांग के कारण आज मंजूषा परिवर्तित शैली में शोला–कागज–सनाठी की पारम्परिक दीवारों से निकलकर सिल्क के वस्त्रों, साड़ियों, स्कार्फ, बेडसीट, रूमाल सहित वॉल हैंगिंग, पेन स्टैंड, ट्रे, चाबी के छलों आदि पर भी रूपायित हो रही हैं। आज मंजूषा चित्रों को भागलपुर कलक्ट्रेट, सर्किट हाउस, एसपी–डीएम आवास, म्यूनिसिपल कॉरपोरेसन, रेलवे स्टेशन आदि के भवनों सहित दीपावली के दीयों, घरौंदों व अल्पनाओं तथा छठ पूजा घाटों पर भी देखे जा सकते हैं। भागलपुर जिला प्रशासन व कतिपय स्वयंसेवी संस्थानों सहित उपेन्द्र महारथी शिल्प संस्थान, पटना तथा बिहार का उद्योग विभाग वृहत् पैमाने पर प्रदर्शनी, प्रशिक्षण, मार्केटिंग आदि गतिविधियों के द्वारा मंजूषा के चतुर्दिक विकास हेतु प्रयासरत है। 2018 के अंतराष्ट्रीय व्यापार मेला, दिल्ली में मधुबनी के साथ मंजूषा चित्रकला से सज्जित बिहार के पंडाल को स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ, वहीं गोवा में आयोजित बिहार दिवस प्रदर्शनी में इसको सराहना मिली। आज मंजूषा को अपेक्षित ऊंचाईयों पर ले जाने हेतु इसके कलात्मक पक्षों को निखारने के साथ व्यावसिक पक्ष को पुख्ता करने की जरूरत है। इसकी पृष्टभूमि में बिहुला– विषहरी जैसी सशक्त लोकगाथा के होने के कारण इसमें मिथकीय व एथनिक टच देने की संभावना बनती है।

विषहरी पूजा के अवसर पर अंग की प्राचीन

ISSN 2349-4905

परम्पराएं जीवंत हो उठती हैं। ऐतिहासिकता की बात की जाय तो बिहुला–विषहरी की लोकगाथा पुरातन हस्तलिखित ग्रंथों में सुरक्षित है जिसका गायन मनसा पूजा के अवसर पर यहाँ के विषहरी स्थानों में होता है। लोक जीवन में रचे–बसे इस गाथा को सामान्यतः जन–मानस की परिकल्पना मात्र समझ लिया जाता है, किंतु भागलपुर प्रक्षेत्र की विभिन्न खुदाइयों में मिले पुरातात्त्विक साक्ष्य इसकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं। अंतीचक, कहलगांव (भागलपुर) स्थित विक्रमशिला बौद्ध महाविहार की खुदाई में देवी मनसा की दो प्रचीन मूर्तियां मिली हैं जिनमें से एक आभूषणों से युक्त ललितासन मुद्रा में कमलासीन है जिसके सिर के उपर सात फनोंवाला नाग–क्षत्र है, पैरों तले रेंगते हुए दो सर्प व घट तथा सिर के उपर शिवलिंग हैं। विक्रमशिला से खंडित आस्था में मिली मनसा की दूसरी मूर्ति के एक हाथ में सर्प है तथा बायां पैर घुमटे हुए सर्प की पीठ पर है। नीचे एक घट व दो सर्प अंकित हैं।[24] आठवीं शताब्दी के विक्रमशिला के पुरावशेषों में देवी मनसा, सर्पाकृतयों, नाग मूर्ति, शिवलिंग, घट आदि के चिन्ह स्पष्टतः बताते हैं कि उस काल में यहाँ देवी मनसा व सर्प पूजन की परम्पराएं यहाँ विद्यमान थीं।

पटना विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग द्वारा इस चम्पानगर में की गई खुदाइयों में नाग–नागिन सहित मातृ देवियों की मूर्तियां मिली हैं। यहाँ सर्पाकृति उत्कीर्ण एक खंडित प्रस्तर स्तम्भ भी मिला है। प्रारंभिक बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में देशी–विदेशी व्यापारवाली एक समृद्ध नगरी के रूप में चम्पा का उल्लेख गाथा के मुख्य पात्र चांदो सौदागर के समृद्ध व्यापारी होने की बात की पुष्टि करता है। चम्पा की खुदाई में बड़ी संख्या में प्राप्त पत्थर की भट्टियां यहां उन्नत स्वर्ण आभूषण निर्माण–व्यवसाय का संकेत देते है। चम्पानगर में बिहुला के नाम पर एक घाट भी है।[25] बिहार सरकार के पुरातात्विक टीम के हालिया सर्वेक्षण में प्राचीन चम्पा के दुर्ग एवं प्राचीन बन्दरगाह होने के साक्ष्य मिले हैं। यहाँ से प्राप्त प्राचीन मूर्तियों में अंकित घट, सर्पाकृतियों व अन्य चिन्हों के अक्स आज भी यहां के पूजन विधानों–अनुष्ठानों में जीवंत देखे जा सकते हैं।

बिहार (भागलपुर) की तरह बंगाल में भी मनसा विषहरी की गाथा का प्रचलन है जो 'मंगल काव्य' के नाम से जाना जाता है जिसके रचयिताओं में काना हरिदत्त (13वीं शताब्दी), पुरूषोत्तम, नारायण देब (15वीं शताब्दी), बिजय गुप्ता और बिप्रदास पिपिलई के नाम आते हैं जिनमें बिजय गुप्त रचित 'मनसा मंगल' सबसे लोकप्रिय है। भागलपुर प्रक्षेत्र तथा बंगाल–दोनों स्थानों में प्रचलित कथाओं में देवी मनसा द्वारा शिवभक्त चांदो सौदागर से अपनी पूजा प्राप्त करने और बिहुला के स्वर्ग जाकर अपने मृत पति के प्राण वापस लाने की घटनाओं के वर्णन हैं। भागलपुर की कथा में घटना का मुख्य स्थल चम्पानगर है, जबकि बंगाल में इसे चम्पकनगर बताया गया है। इतिहासकार आर.सी. मजूमदार बताते हैं कि व्यापारी चांद सौदागर और उसके पुत्र लखींदर तथा पुत्रवधू बिहुला की कहानी मध्य बंगाल की गाथात्मक काव्य श्रृंखलाओं में पायी जाती हैं।[26]

बिहुला–विषहरी की गाथा मूल रूप से बंगाल की है या बिहार की, इस विवाद पर गहन अध्ययन के उपरांत ऐतिहासिक एवं भौगोलिक साक्ष्यों के आधार विद्वानों ने इसे बिहार के भागलपुर के चम्पानगर से संबंधित माना है। एल.एन. डे, बिहार और बंगाल में प्रचलित बिहुला–विषहरी की गाथाओं, इसमें वर्णित पात्रों एवं स्थानों तथा भौगोलिक दृष्टि से मीमांसा करने के उपरांत निष्कर्षतः इसे बिहार के भागलपुर के चम्पानगर से संबंधित मानते हैं।[27] कतिपय विद्वानों के मतानुसार यह घटना बिहार की है जिसे बंगाल

ISSN 2349-4905

के कवियों ने मनसा मंगल काव्य के रूप में लिपिबद्ध किया। पुरा विशेषज्ञ यूसी द्विवेदी एवं अरविंदो सिंहा राय के मतानुसार मनसा मंगल की गाथा तत्कालीन विख्यात व्यापारिक केन्द्र भागलपुर के चम्पानगर पर आधारित है जो कि सम्प्रति बंगाल, ओडिसा, झारखंड, असम और बांग्लादेश में प्रचलित है। साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य स्पष्टतः इंगित करते हैं कि यह पूरा भौगोलिक क्षेत्र मध्यकाल में एक प्रशासनिक सत्ता के अधीनस्थ था और संभवतः यह कथा पूरे क्षेत्र में लोकप्रिय थी।[28]

संदर्भ

1. एन.आर. फारूकी और एस.जेड.एच. जाफरी, संपा. (2013), *एस्पैक्ट ऑफ इण्डियन हिस्ट्री*, अनामिका पब्लिशर्स और डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 457
2. डी.पी. तिवारी, संपा. (2016), *हिस्ट्री टुडे*, द हिस्ट्री एंड कल्चर सोसाइटी, नई दिल्ली, पृ. 2
3. वही, पृ. 2,
4. एन.आर. फारूकी एवं .जाफरी (संपा.), *एस्पैक्ट ऑफ इण्डियन हिस्ट्री*, अनामिका पब्लिशर्स और डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 457
5. वही, पृ. 457
6. दैनिक भास्कर, भागलपुर संस्करण, 27 अगस्त, 2017 अंक, पृ. 2, ' अहा जिंदगी ' परिशिष्ट में आलोक श्रीवास्तव का संपादकीय लेख
7. श्रीराम गोयल (1988) *मगध–सामवाहन–कुषाण साम्राज्यों का युग*, कुसुमांजलि प्रकाशन, मेरठ, पृ. 109–110
8. ए.के. सिन्हा (1984), *गर्ल्स ऑफ भागलपुर*, भागलपुर म्यूजियम एंड टाउन कल्चरल एसोसिएशन, भागलपुर, पृ.1, चंपिया जातक 'का उद्धरण।
9. वही, पृ. 5 'रामायण बाल कांड' का उद्धरण।
10. वही, पृ. 4–5
11. वही, पृ. 5
12. वही, पृ. 5
13. जॉन डॉसन, (2003), *क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिंदू माइथोलॉजी एंड रिलिजन*, जियोग्राफी, हिस्ट्री, केसिंजर पब्लिकेशन, व्हाइटफिश, मोंटाना, पृ. 196
14. एस.के. सिन्हा, (1984), वही, पृ. 6
15. एल.एस.एस. ओ मालली (पुनः प्रकाशन 2012, प्रथम प्रकाशित 1909), *बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटर्स* हावड़ा, लोगो प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 43
16. शिवशंकर सिंह पारिजात (2004) *अंग क्षेत्र के शिवधाम*, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 11
17. वही
18. वही
19. आर.के. सिन्हा एवं ओपी पांडे (2008), *मंजूषा आर्टः रिफ्लैक्शनस इन फोकलोर*, ट्रेड एण्ड रीजनल हिस्ट्री नई दिल्ली, पृ. 31
20. मनोज कुमार (2007), *मंजूषा चित्रकलाः अंग प्रदेश की धरोहर*, दिशा ग्रामीण विकास मंच, बैजानी, एवं नाबार्ड, भागलपुर, पृ. 6
21. वही, पृ. 4
22. चंद्रप्रकाश जगप्रिय (2011), *अंग प्रदेश की लोककला मंजूषा*, निराली दुनिया पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 31
23. जे.सी. शर्मा (2010), *मंजुषा फोक आर्ट के संक्षिप्त चित्र*, भारती प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 37–38
24. बीएस वर्मा (2011), *एंटिचक एक्सकेवशन्स–2* (1971–1981), भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली, पृ. 295

ISSN 2349-4905

25. राम चंद्र प्रसाद (1987), *चंपा और विक्रमशिला के पुरातत्वविद्*, रामानंद विद्या भवन, दिल्ली, पृ. 61, 72, 73
26. आर.सी. मजूमदार (पुनर्मुद्रण 2003, प्रथम प्रकाशन 1943), *द हिस्ट्री ऑफ बंगाल* (वॉल्यूम–1) बी.आर. प्रकाशन निगम, दिल्ली, पृ. .392
27. एन.एल. डे (1927), *द जियोग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एंशिएंट एंड मीडियावेल इंडिया*, लुजैक एंड कंपनी, लंदन, पृ. 45
28. यू.सी. द्विवेदी, अरबिंदो सिंघा रॉय, कला इतिहास कांग्रेस, गुवाहटी में पुरातत्वविद द्वारा दिसंबर 2017 को 'मंजूषा : अ ट्रैडिशनल पेंटिंग ऑफ नाथनगर' विषय पर पावर प्वाइंट प्रस्तुति

ISSN 2349-4905

अलौकिक विवाह गाथा में शिव–लाहौल के संदर्भ में

डॉ. श्रवण कुमार

पर्वताराज हिमालय की गोद में बसा हिमाचल प्रदेश सम्पूर्ण विश्व में देव भूमि के नाम से विख्यात है। इसका प्रत्येक क्षेत्र देवी–देवताओं, ऋषि–मुनियों, सिद्ध–महात्माओं तथा धर्म गुरुओं की पारम्परिक मान्यताओं से सम्बद्ध है। प्रत्येक स्थान विशेष की अपनी अलग तथा विशिष्ट धार्मिक पहचान तथा महत्ता है। यहाँ के कई धार्मिक स्थल विभिन्न धर्मों के परस्पर सम्भाव को बड़ी सरलता के साथ संजोए हुये हैं। धार्मिक दृष्टि से पूरे प्रदेश में देवी–देवताओं के असंख्य आस्थानों तथा लोगों की इनमें अगाध श्रद्धा के कारण ही हिमाचल प्रदेश को देव भूमि की संज्ञा देना यथार्थवादी प्रतीत होता है।

हिमाचल प्रदेश का लाहौल–स्पिति जिला धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधार पर अपनी एक अलग पहचान कायम किये हुये है। यह स्थान हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों के साथ–साथ बोन धर्मानुयायियों (बौद्ध की एक शाख)की आश्रय स्थली रही है। लाहौल क्षेत्र जहाँ प्राचीन त्रिलोकीनाथ तथा मृकुला माता मन्दिरों और प्राचीन गुरु घंटाल, शाशुर, कारदंग तथा तायुल जैसे बौद्ध विहारों के लिये प्रख्यात है वहीं स्पिति क्षेत्र हिमालयी अजन्ता ताबो विहार, के विहार तथा डंखर सरीखे बौद्ध विहारों के कारण आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। लाहौल की धरती सिद्ध महात्माओं तथा खंड्रोमा (धर्म डाकिनियों) की तपोस्थली के रूप में भी ख्यात रही है। इस कारण इसे गरजा खंड्रोलिङ भी कहा गया है।

क्षेत्रफल के आधार पर लाहौल–स्पिति (13841 वर्ग किलो मीटर) प्रदेश का सबसे बड़ा जिला है जबकि प्रदेश के अन्य जिलों की तुलना में सबसे कम आबादी (31564 व्यक्ति, 16588 पुरुष तथा 14976 महिलाएं, जनगणना–2011) यहाँ निवास करती हैं।[1] यहाँ की विकट भौगोलिक स्थिति में जीवन–यापन अत्यंत जटिल है वहीं इसके ठीक विपरीत यहाँ के लोगों का आचार–व्यवहार अत्यंत सरल है। रोहताँग दर्रा हिमालय की इस विस्मयकारी धरती के लिये प्रवेश का मार्ग प्रशस्त करता है जबकि कुँज़म दर्रा लाहौल तथा स्पिति को दो भिन्न घाटियों के रूप में विभक्त करता है। इस क्षेत्र की भौगोलिक विलक्षणता इसे वर्ष भर में लगभग छः माह सम्पूर्ण प्रदेश से पृथक रखती है। ज़मीनी सम्पर्क के अभाव में उस समय हवाई सम्पर्क ही एक मात्र विकल्प रहता है। परन्तु यहाँ के संस्कृति प्रेमी तथा अपार श्रद्धाशील निवासी जमा देने वाली कड़कड़ाती शीत में भी सभी धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का सजगता और सहजता के साथ निर्वहन करते हैं।

लाहौल में हिन्दू तथा बौद्ध दोनों धर्मों का सह–अस्तित्त्व है जबकि स्पिति घाटी पूर्णतया बौद्ध मयी है। लाहौल की रंगलोई, तिनन, गाहर, तोद तथा मयाड़ घाटियाँ जहाँ मूलरूप से बौद्ध मतावलम्बियों से सम्बन्धित है वहीं पट्टन (चन्द्रभागा) घाटी हिन्दू तथा बौद्ध दोनों धर्मों के अनुयायियों की संयुक्त आश्रय स्थली है। लाहौल का धर्म समाज अत्यंत विलक्षण

 ISSN 2349-4905

है। यहाँ पर शिखर शैली में निर्मित त्रिलोकीनाथ मन्दिर का कारदार स्थानीय रेबग ठाकुर जहाँ हिन्दू है वहीं मन्दिर का पुजारी बौद्ध भिक्षु (लामा) है।

लाहौल के ऐतिहासिक घटनाक्रमों, देवी–देवताओं, शासकों, मान्यताओं, परम्पराओं तथा यहाँ तक की व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में भी यहाँ की लोक गाथाओं में महत्त्वपूर्ण आख्यान प्राप्त होते हैं। देव आख्यानों से सम्बन्धित लोक गाथाओं में देव समाज, देव परम्परा तथा देव समागम आदि का उल्लेख मिलता है। लाहौल घाटी में भगवान शिव तथा उनसे जुड़ी मान्यताएं अति प्राचीन मानी गई हैं। शिव उपासक त्रिलोकीनाथ को तीन लोकों के स्वामी रूप में श्रद्धानत होकर पूजते हैं। यहाँ के मेलिंग ग्राम स्थित प्राचीन शिव मन्दिर भी इस क्षेत्र में शैव मत की दृढ़ता के साथ पुष्टि करता है। इस स्थान पर एक सौ आठ प्राकृतिक शिव लिंगों की उपस्थिति शिव उपासकों के इस विशेष तीर्थ की गरिमा को प्रकट करता है। केलंग स्थित केलिंग वज़ीर (कार्तिक स्वामी) का मन्दिर बौद्धमयी गाहर घाटी के मध्य हिन्दू परम्परा की अनूठी मिसाल दर्शाता है। वैदिक परम्परा अस्किनी को चन्द्र भागा रूपी दो दिव्यात्माओं के दिव्य मिलन का परिचायक मानती है। आज भी चन्द्र भागा के इस दिव्य संगम रूप को क्षेत्र की गंगा होने का गौरव प्राप्त है। घाटी की सदियों से चली आ रही परम्परा को जारी रखते हुए यहाँ के निवासी आज भी मृतकों की अस्थियों को इसी संगम के पवित्र जल में विसर्जित करते हैं।

चन्द्र भागा संगम के पार्श्व में खड़ा ड्रिलबु पर्वत शिखर भी भगवान शिव तथा उनसे जुड़ी मान्यताओं के साक्ष्य प्रदान करता है। प्राचीन जनश्रुति के अनुसार इसी पर्वत शिखर पर शैलराज हिमालय का निवास स्थान था। उस समय माता पार्वती का जन्म शैलराज की पुत्री के रूप में हुआ था। भगवान् शिव द्वारा जब महर्षि नारद को विवाह के लिए योग्य कन्या ढूँढने हेतु चारों दिशाओं में भेजा जाता है और मुनि नारद चारों दिशाओं से कोई भी योग्य कन्या न मिलने पर उदास होकर लौटते हैं तो अन्तर्यामी भगवान् शिव अन्त में उन्हें हिम प्रदेश में भेजते हैं। मान्यतानुसार ड्रिलबु पर्वत शिखर पर शैलपुत्री माँ पार्वती के साथ भगवान् शिव का विवाह तय हुआ था। इसके पश्चात् भगवान् शिव अपने निवास स्थान मणि महेश कैलाश से सभी देवी–देवताओं, ऋषि–मुनियों, राक्षसों, गणों तथा समस्त जीवों को बाराती लेकर ड्रिलबु पर्वत शिखर की ओर निकले। लोकश्रुत मान्यताओं के अनुसार बारात आगमन के समय हिम प्रदेश में नौ गज की ऊँचाई तक हिमराशी जमा थी। परन्तु बारात प्रस्थान के बाद हिम प्रदेश में मात्र धूल ही रह गयी थी। इस प्रकार हिम प्रदेश में भगवान् शिव और माता पार्वती का जो अद्वितीय विवाह हुआ था उसका विस्तार सहित पूर्ण विवरण इस प्राचीन लाहौली लोक गाथा में भावानुवाद सहित इस प्रकार से है –

लाहौली लोक गाथा में शिव-पार्वती विवाह[2]

ए ईशूरा बीरा बरा मांगुणे लागी ।।1।।
ए जाओ बमूना बरू ए मंगाये ।।2।।
ए आथाना लीये बरूमल्ला शेठी ।।3।।
गाड़ा ना लीये लुदूरे री माड़े ।।4।।
ए जाओ बमूना ए पुरूबल्ला मुलूके ।।5।।
ए पुरूबल्ला मुलूके बरू नाये मिलांदे ।।6।।
ए पुरूबल्ला मुलूके मेये ढुण्डे आये ।।7।।
ए जाओ बमूना ए दाखाणा खाण्टे ।।8।।
ए हाथाना लीये बरूमल्ला शेठी ।।9।।
गाड़ा ना लीये लुदूरे री माड़े ।।10।।
ए दाखाणा मुलूके बरू नाये मिलांदे ।।11।।

ISSN 2349-4905

ए दाखाणा मुलूके मेये ढुण्डे आये ||12||
ए जाओ बमूना ए पाछम्मा मुलूके ||13||
ए हाथाना लीये बरूमल्ला शोठी ||14||
गाड़ा ना लीये लुदूरे री माड़े ||15||
ए पाछम्मा मुलूके बरू नाये मिलांदे ||16||
ए पाछम्मा मुलूके मेये ढुण्डे आये ||17||
ए जाओ बमूना ए ऊतूड़ा मुलूके ||18||
ए हाथाना लीये बरूमल्ला शोठी ||19||
गाड़ा ना लीये लुदूरे री माड़े ||20||
ए ऊतूड़ामुलूके बरू नये मिलांदे ||21||
ए ऊतूड़ा मुलूके मेये ढुण्डे आये||22||
ए ईशूरा बीरा ए आन्ताराजामी ||23||
ए जाओ बमूना ए हिवें पन्ता मुलूके ||24||
ए हिऊं पन्ता मुलूके हिवें जल्ला राजा ||25||
ए हिऊं पन्ता मुलूके हिवें चूणी राणी ||26||
ए हिऊं चूणी राणी कनीयां कूमारी ||27||
ए हाथाना लीये बरूमल्ला शोठी ||28||
गाड़ा ना लीये लुदूरे री माड़े ||29||
ए चलो मेरेबमूना हिवें पन्ता मुलूके ||30||
ए जाँ च़ल्ली बिशूनू ताँ च़ल्ली बिशूनू ||31||
ए जाँ च़ल्ली बमूना ताँ च़ल्ली ब्रह्मा ||32||
ए हिऊं पन्ता मुलूके हिवें जल्ला राजा ||33||
ए ब्रह्मा बिशूनू हिवें पन्ता मुलूके ||34||
ए चलो मेरे बमूना हिवें पन्ता मुलूके ||35||
ए हिऊं चूणी राणी बरा मांगुणे आये ||36||
ए ब्रह्मा बिशूनू संगेयाना त्यारी ||37||
ए हिऊं चूणी राणी बरू ए मंगाये ||38||
ए हिऊं पन्ता मुलूके गजूपत्ता हींवां ||39||
(परिवर्तित लय)

ए शिया मेघा पञ्जा गौरी रे ब्याहये ||40||
ए शिया मेघा बादेला शींगा जो शिया ||41||
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याये ||42||
ए ईशूरा बीरे धामाणा दीती ||43||
ए धमे धामे सूरा बीरा जो धामे ||44||
ए धमे धामे रिखी मूनी जो धामे ||45||
ए धमे धामे देवी दानौ जो धामे ||46||
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याहये ||47||
ए धमे धामे बासिका नागे जो धमे ||48||
ए धमे धामे काड़ी नागे जो धामे ||49||
ए धमे धामे नौ लक्खा तारे जो धामे ||50||
ए धमे धामे अनुगरा बीरा जो धामे ||51||
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याहये ||52||
ए बासिका नागे री पगूड़ी बाणाये ||53||
ए काड़ीना नागे री हारा गून्दाये ||54||
ए नौ लक्खा तारे री सेहरा बाणाये ||55||
ए भ्याणू रे तारा तिलीका चाढ़ाये ||56||
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याहये ||57||
ए अजुगरा बीरे झामाणा च़ालाये ||58||
ए गदी दें दे अरूगा गदी दें दे धूपे ||59||
ए झामाणा झामेटु एकी ना न्ह्वारे ||60||
ए कसे जोगू अरूगा कसे जोगू धूपे ||61||
ए अजुगरा बीरे झामाणा च़ालाये ||62||
तिसा जोगू अरूगा तिसा जोगू धूपे ||63||
ए बासिका नागे री पगूड़ी बाणाये ||64||
तिसा जोगू अरूगा तिसा जोगू धूपे ||65||
ए काड़ीना नागे री हारा गून्दाये ||66||
तिसा जोगू अरूगा तिसा जोगू धूपे ||67||
ए नौ लक्खा तारा सेहरा बाणाये ||68||

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

ISSN 2349-4905

तिसा जोगू अरूगाा तिसा जोगू धूपे ।।69।।
ए भ्याणू रे तारा तिलीका चाढ़ाये ।।70।।
तिसा जोगू अरूगाा तिसा जोगू धूपे ।।71।।
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याहये ।।72।।
ए हिऊंपन्ता मुलूके नौवें गाजा हींवां ।।73।।
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याहये ।।74।।
ए अगे आगे शूऊङ्कारा बीरा ।।75।।
ए अगे आगे नौवें गाजा हींवा ।।76।।
ए पीछे ना ए धूड़े नू धूड़े ।।77।।
ए तां होणां पञ्जा गौरी रे ब्याहये ।।78।।

उपर्युक्त लोकगाथा लाहौली धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग है। गाथा का प्रारंभ लोकगायक इस मनोभाव से करता है कि हिमालय की विस्मय भूमि में आज भी देवी–देवताओं का यहाँ के समाज तथा संस्कृति के विविध आयामों में प्रत्यक्ष प्रभाव प्रदर्शित होता है। गाथा में कहा गया है कि भगवान शिव एक समय मानव सभ्यता तथा संस्कृति के महत्त्वपूर्ण आयाम विवाह हेतु चिंतन करते हैं और सृष्टि के गतिमान नियम के अनुरूप यह निर्णय लेते हैं कि उन्हें भी विवाह रूपी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक–सामाजिक पक्ष को अंगीकृत करना है। इस संबंध में भगवान शिव अपना चिन्तन देवर्षि नारद को बताते हैं और उन्हें अपने लिए सुयोग्य कन्या तलाशने का दायित्व सौंपते हैं। नारद जी हाथा में टिम्बर की लकड़ी का दण्ड लिए, गले में रूद्राक्ष की माला डाल उत्तर–दक्षिण चारों दिशाओं में जाकर योग्य कन्या तलाशते हैं परंतु उन्हें कहीं भी विवाह योग्य कन्या नहीं मिल पाती। अंततः भगवान शिव के कहने पर नारद जी हिमवन्त प्रदेश (हिमालय) की ओर रूख करते हैं।

हिमवन्त प्रदेश पहुँचकर नारद जी शैलराज हिमालय की सुपुत्री माता पार्वती के साथ भगवान शिव के विवाह संबंधी प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं और विवाह तय हो जाता है। इसके पश्चात निर्धारित समय पर भगवान शिव को ब्याहने मणि महेश कैलाश से हिमवन्त प्रदेश (लाहौल) की ओर निकलते हैं। बारातियों में देवी–देवताओं सहित ऋषि–मुनि, दानव, भूत–पिशाच, शिवगण, वासुकी और काली नाग आदि समस्त जीव सम्मिलित होते हैं। दुल्हे के रूप में भगवान शिव का परम्परागत व अद्भुत शृंगार किया जाता है। विलक्षण विवाह प्रसंग के समय हिमवन्त प्रदेश नौ गज मोटी हिम की चादर से ढका हुआ था, परंतु अद्भुत विवाह सम्पन्न होने पर जब बारात वापिस लौटती है तो हिमवन्त प्रदेश में बर्फ नाममात्र भी नहीं रहती केवल धूल ही शेष रहती है। इस प्रकार का अविस्मरणीय अद्भुत एवं विलक्षण विवाह विधिवत सम्पन्न होता है। लोक गायकों द्वारा इस सम्पूर्ण प्रसंग को स्थानीय लोकभाषा में पिरोकर यहाँ की संस्कृति तथा धार्मिक आस्था को पीढ़ी–दर–पीढ़ी जीवंत रूप में बड़ी ही सजीवता से चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

उपर्युक्त लोक गाथा का लाहौली धर्म समाज में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। लाहौल में विशिष्ट धार्मिक अवसरों तथा विवाह के शुभ अवसर पर बुजुर्गों द्वारा इस लोक गाथा का गायन किया जाता है। यहाँ प्रचलित विवाह परम्परा के अनुसार इस लोक गाथा का गायन वर–पक्ष के शिरदार यानी बारात पथ प्रदर्शक द्वारा सर्वप्रथम किया जाता है और उसके पश्चात् बारात में शामिल सभी बड़े–बुजुर्गों द्वारा इसे दोहराया जाता है। स्थानीय बोली में इस प्रकार गाथा पंक्तियों का दोहराया जाना ''लन रांड्री'' कहलाता है। इस गाथा से सम्बन्धित ड्रिलबु पर्वत शिखर पर एक अर्द्ध कक्षनुमा ढाँचा आज भी देखा जा सकता हैं जिसके बारे में मान्यता है कि वह माता

ISSN 2349-4905

पार्वती का कक्ष था।

ड्रिलबु पर्वत शिखर के सामने चन्द्र भागा संगम के बायीं ओर की पहाड़ियों पर श्वेत तथा हल्के लाल रंग की पट्टियाँ बनी हैं। लाहौली मान्यताओं में इन धारीदार पट्टियों को शिव–पार्वती विवाह के समय बारातियों का मार्ग बतलाया गया है। यह धारिदार पट्टियाँ यहाँ से प्रारम्भ होकर जोबरंग गार (नाले) से भीतर की ओर जाते हुए कुगती दर्रा पार कर मणि महेश कैलाश पर्वत तक बनी हुई हैं। स्थानीय मान्यता के अनुसार भगवान् शंकर इसी मार्ग से माता पार्वती को ब्याह कर कैलाश ले गए थे। जनश्रुति के अनुसार भगवान् शिव की बारात में शामिल असंख्य जीवों में से कुछ मार्ग में पीछे रह जाने के कारण वहीं शैल बन गये थे। इनमें से एक हाथी, एक विशालकाय सर्प तथा एक साधू की आकृति को आज भी इन धारिदार चट्टानों पर देखा जा सकता है। अद्भुत संयोग यह है कि जिस स्थान पर हाथी की आकृति पहाड़ी पर बनी है उसके ठीक नीचे पानी का एक चश्मा निकलता है। इस निर्मल जल को क्षेत्र के बुजुर्ग लोग हाथी के मूत्र की संज्ञा देते हैं। लाहौल घाटी से प्रतिवर्ष होने वाली परम्परागत मणि महेश यात्रा का सम्बन्ध भी इसी देव परम्परा से जुड़ा हुआ है। यह यात्रा प्रतिवर्ष श्रावण माह में आरम्भ होती है। लाहौल के जोबरंग गार से शुरू होने वाली यह यात्रा मार्ग में खोड़ देव मैदान होते हुए ग्रेचू की सीधी चढ़ाई कुगती दर्रा पार कर केलिंग वज़ीर तथा माता मराली के दर्शनोपरांत गिरिजा चौगान (पार्वती मैदान) से चलते हुए डड़ी दर्रा लांघ कर चार–पाँच दिनों बाद पवित्र मणि महेश झील पहुँचती हैं लाहौली बुजुर्गों के अनुसार माता पार्वती के मायके वाले होने के कारण लाहौलवासियों को इस दुर्गम पद यात्रा में कोई कष्ट नहीं होता। भगवान् शिव के जयघोष के साथ पर्वत शिखरों पर छायी धुन्ध छट जाती है, कमर तक लम्बी घास में से भालू पथ–प्रदर्शक बन कर मार्ग दिखलाते हैं। माता पार्वती लाहौलवासियों द्वारा मणिमहेश यात्रा करने से अत्यधिक प्रसन्न होती हैं तथा यात्रियों की हर मनोकामना पूर्ण करती है। मान्यता है कि निःसन्तान दम्पतियों को इस यात्रा के उपरान्त पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है।

लाहौली देव समाज में गूर यानी देव प्रतिनिधियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है। घाटी के गूरों से सम्बन्धित एक विशेष तथा महत्त्वपूर्ण परम्परा यह है कि इन्हें गूर रूप में गड़वा देने अर्थात् अन्तिम अनुमोदन की प्रक्रिया भरमौर क्षेत्र के अन्तर्गत पड़ने वाले कुगती के केलिंग वज़ीर मन्दिर में ही पूरी की जाती है। यहाँ पर गड़वा देने के लिए भेड़ की बलि देने के उपरान्त नए गूर को विधि –विधानपूर्वक टोपी पहनाकर अन्तिम अनुमोदन प्राप्त होता है। तभी उन्हें देव समाज में पूर्णरूपेण गूर की मान्यता प्राप्त होती है। वर्षों से चली आ रही इस परम्परा को आज भी घाटी के नये गूरों द्वारा समर्पित भाव से सम्पादित किया जाता है।

यह कहना उचित होगा कि किसी भी समाज की ऐतिहासिकता, सामाजिक व्यवस्था क्रम, सांस्कृतिक घटकों तथा धार्मिक मान्यताओं को उस समाज विशेष में प्रचलित लोक गाथाओं द्वारा अभिव्यक्ति का माध्यम प्रदान किया जाता है। सदियों से यह परम्परा समाज में मौखिक रूप में जीवित रही है। लाहौली समाज में प्रचलित शिव–पार्वती विवाह से सम्बन्धित लोक गाथा द्वारा क्षेत्र की धार्मिक परम्परा के साथ–साथ सांस्कृतिक विशेषता को भी दर्शाया गया है। यह लोक गाथा लाहौली समाज में न केवल लोगों की श्रद्धा तथा आस्था का परिचायक है, अपितु यहाँ के धार्मिक अतीत का सुन्दर आख्यान भी उपलब्ध करवाता है। वर्तमान समय में परम्परागत लोग गाथाओं का वास्तविक रूप

ISSN 2349-4905

में गायन निरन्तर कम होना गम्भीर चिन्ता का विषय है। तथापि क्षेत्र के नवोदित लोक गायक–गायिकाओं का इसे इसके परम्परागत रूप में संरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता हैं। अंत में यह कहना उचित रहेगा कि शिव–पार्वती विवाह से सम्बन्धित लोक गाथा का धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से लाहौल में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह लोक गाथा लाहौली समाज की एक अमूल्य सांस्कृतिक निधि है।

संदर्भ

1. सतीश कुमार लोपा (1994), *गीत–अतीतः लाहुली*, रिनचेन ज़ङपो सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सभा, पोस्ट बॉक्स –2 केलंग, जिला – लाहुल एवं स्पीति
2. डी.डी. शर्मा (1998), *हिमालय की विस्मयभूमितः लाहुल* (सामाजिक–सांस्कृतिक सन्दर्भ), ईरा प्रकाशन, सोलन

ISSN 2349-4905

आवश्यकता एवं अभिलाषा से हिन्दी का जुड़ाव

डॉ. शिबन कृष्ण रैणा

हिन्दी–दिवस अथवा हिन्दी–सप्ताह के दौरान सरकारी कार्यालयों, शिक्षण–संस्थाओं, हिन्दी–सेवी संस्थाओं आदि में हिन्दी को लेकर भावपूर्ण भाषण व व्याख्यान, निबन्ध–प्रतियोगिताएं, कवि–गोष्ठियां पुरस्कार–वितरण आदि समारोह बड़े हर्षोल्लास से मनाए जाते हैं। सरकार का भी आशीर्वाद भी इस भाषा को रहा है। मगर प्रश्न यह है कि इस तरह के आयोजन पिछले पैंसठ–सत्तर सालों से होते आ रहे हैं, क्या हिन्दी को हम वह सम्मानजनक स्थान दिला सके हैं, जिसका संविधान में उल्लेख है? जन–जन की भाषा भले ही वह बन गयी हो मगर क्या अच्छी नौकरियाँ दिलाने में इस भाषा की कोई भूमिका है? कई सारी अच्छी नौकरियां दिलाने वाली प्रतियोगी–परीक्षाओं में आज भी हिन्दी उपेक्षित है। हिन्दी को 'ज़रूरत' से जोड़ने की आज सख्त ज़रूरत है। हिन्दी–आयोजन अपनी जगह और हिंदी की 'वास्तविक उपयोगिता' अपनी जगह। विज्ञान, मेडिकल, इंजीनियरिंग, प्रबंधन आदि विषयों में जब तक हिंदी में तैयार की गयी अध्यापन–सामग्री सामने नहीं आएगी, हिन्दी का भविष्य अधर में ही झूलता रहेगा। हिन्दी–प्रेमियों को इस मुद्दे पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। भाषण देने, बाज़ार से सौदा–सुलफ खरीदने या फिर फिल्म/सीरियल देखने के लिए हिन्दी ठीक है, मगर अच्छी नौकरियों के लिए या फिर उच्च अध्ययन के लिए अब भी अंग्रेजी का दबदबा बन हुआ है। इस दबदबे से कैसे मुक्त हुआ जाए? भविष्य में आयोजित होने वाले हिन्दी–आयोजनों के दौरान, इस विषय पर भावुक हुए विना वस्तुपरक तरीके से विचार–मंथन होना चाहिए। निजी क्षेत्र के संस्थानों में हिंदी की स्थिति भी शोचनीय बनी हुई है और मात्र कमाने के लिए इसका वहां पर 'दोहन' किया जा रहा है। इस मुद्दे पर भी विचार करने की ज़रूरत है।

दरअसल, हिन्दी–प्रेम का अर्थ हिन्दी विद्वानों, लेखकों, कवियों का समुदाय तैयार करना नहीं है। हिन्दी–प्रेम का अर्थ है हिन्दी के माध्यम से रोज़गार के अच्छे अवसर तलाशना, उसे उच्च अध्ययन ख़ास तौर पर विज्ञान और टेक्नोलॉजी की पढ़ाई के लिए एक कारगर माध्यम बनाना और उसे देश की अस्मिता व प्रतिष्ठा का सूचक बनाना। मगर विडंबना देखिये, आए साल हिन्दी दिवस पसरते जाते हैं, किन्तु हिन्दी सिकुड़ती जाती है। चाहे लोकसेवा आयोगों या विश्वविद्यालयों के प्रश्न–पत्र हों या फिर सरकारी चिट्ठी–पत्री, राज–काज की मूल प्रामाणिक भाषा अंग्रेजी है। रैपिड इंग्लिश स्पीकिंग कोर्स के सर्वव्यापी विज्ञापन और कुकरमुत्ते की तरह उगते इंग्लिश मीडियम के स्कूल, अंग्रेजी के साम्राज्य का डंका बजाते हैं। जहाँ–जहाँ अभिलाषा है और भविष्य है, वहाँ–वहाँ अंग्रेजी है। यों, सत्ता का व्याकरण भी कमोबेश हिन्दी में नहीं अंग्रेजी में ही लिखा जा रहा है। सत्ता के गलियारों में या फिर देश के प्रतिष्ठित और उच्च संस्थानों में अंग्रेजी का ही बोलबाला है। ऐसे में राजभाषा की परिकल्पना मात्र एक दिखावा बनकर रह गयी है।

 ISSN 2349-4905

किसी भी भाषा का विस्तार या उसकी लोकप्रियता या उसका वर्चस्व तब तक नहीं बढ़ सकता जब तक कि उसे 'ज़रूरत' यानी 'आवश्यकता' से नहीं जोड़ा जाता। यह 'ज़रूरत' अपने आप उसे विस्तार देती है और लोकप्रिय भी बना देती है। हिन्दी को इस 'जरूरत' से जोड़ने की आवश्यकता है। हिन्दी की तुलना में 'अंग्रेजी' ने अपने को इस 'ज़रूरत' से हर तरीके से जोड़ा है। जिस निष्ठा और गति से हिन्दी और गैर–हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी प्रचार–प्रसार का कार्य हो रहा है, उससे दुगुनी रफतार से अंग्रेजी माध्यम से ज्ञान–विज्ञान के नये–नये क्षितिज उद्‌घाटित हो रहे हैं जिनसे परिचित हो जाना आज हर व्यक्ति के लिए लाज़िमी हो गया है। इस कथन से यह अर्थ कदापि न निकाला जाए कि मैं अंग्रेजी की वकालत कर रहा हूँ। मैं सिर्फ यह रेखांकित करना चाहता हूँ कि अंग्रेजी ने अपने को जरूरत से जोड़ा है। अपने को मौलिक चिंतन, मौलिक अनुसंधान व सोच तथा ज्ञान–विज्ञान के अथाह भण्डार की संवाहिका बनाया है जिसकी वजह से पूरे विश्व में आज उसका वर्चस्व अथवा दबदबा बना हुआ है। हिन्दी अभी 'जरूरत' की भाषा नहीं बन पाई है। आज हमें इस बात का जवाब ढूँढना होगा कि क्या कारण है अब तक उच्च अध्ययन खास तौर पर विज्ञान और टैक्नॉलजी, चिकित्साशास्त्र, प्रबंधन आदि के अध्ययन के लिए हम स्तरीय पुस्तकें तैयार नहीं कर सके हैं? ग्रन्थ–अकादमियों द्वारा तैयार करायी गयी अनूदित सामग्री से बहुत दिनों तक काम चलने वाला नहीं है। हिन्दी में मौलिक चिन्तन और लेखन की अतीव आवश्यकता है तभी हमारी युवा–पीढ़ी इस भाषा को अपनाने का यत्न करेगी।

समय आ गया है जब हिन्दी के सर्वांगीण विकास और समृद्धि के लिए हिन्दी–प्रेमियों को एकजुट होना होगा और युद्ध स्तर पर इसके लिए काम करना होगा। जो हिन्दी से सीधे–सीधे आजीविका या अन्य तरीकों से जुडे हुए हैं, वे तो हिन्दी के अनुयायी हैं ही। यह उनका कर्म है, उनका नैतिक कर्तव्य है कि वे हिन्दी का पक्ष लें, हिन्दी के उन्नयन के बारे में सोचें और चिन्तन करें। मैं बात कर रहा हूँ ऐसे हिन्दी वातावरण को तैयार करने की जिसमें भारत देश के किसी भी भाषा–क्षेत्र का किसान, मजदूर, रेल में सफर करने वाला हर यात्री, अलग अलग काम–धन्धों से जुड़ा आमजन हिन्दी समझे और बोलने का प्रयास करे। टूटी–फूटी हिन्दी ही बोले, मगर बोले तो सही। यहां पर मैं दूरदर्शन और सिनेमा के योगदान का उल्लेख करना चाहूँगा जिसने हिन्दी को पूरे देश में लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कई वर्ष पूर्व जब दूरदर्शन पर 'रामायण' और 'महाभारत' सीरियल प्रसारित हुए तो समाचार पत्रों के माध्यम से सुनने को मिला कि दक्षिणभारत के कतिपय अहिन्दी भाषी अंचलों में रहने वाले लोगों ने इन दो सीरियलों को बढे चाव से देखा क्योंकि भारतीय संस्कृति के इन दो अद्‌भुत महाकाव्यों को देखना उनकी भावनागत जरूरत बन गई थी और इस तरह अनजाने में ही हिन्दी सीखने का उपक्रम भी किया। हम ऐसा ही एक सहज, सुन्दर और सौमनस्यपूर्ण माहौल बनाना चाहते हैं जिसमें हिन्दी एक ज़रूरत और अभिलाषा की भाषा बने और उसे जन–जन की वाणी बनने का गौरव प्राप्त हो।

ISSN 2349-4905

भूमण्डलीकरण और हिन्दी

डॉ. सुनीता देवी

वर्तमान परिदृश्य में हिन्दी समूचे विश्व के आकर्षण का केन्द्र बनती जा रही है। विश्व के लगभग 150 प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पठन पाठन होना एक शुभ संकेत है। आज बाजार में अपना पाँव पसारे कई टी. वी. चैनलों को लगने लगा है कि हमें अगर भारत में लोकप्रियता अर्जित करनी है और पैसा कमाना है, तो यह हिन्दी के बिना संभव नहीं है। आज का युग सूचना क्रांति का युग है, जहाँ ज्ञान विज्ञान का निरंतर विकास होता जा रहा है। परस्पर संपर्क क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है, अतः ऐसी स्थिति में वह भाषा सर्वप्रिय और सर्वोपयोगी मानी जा सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। भाषा के प्रायः दो रूप माने जाते हैं सामान्य अभिव्यक्तिपरक तथा प्रगतिपरक अभिव्यक्ति रूप। जिसमें से प्रगतिपरक भाषा का सम्बन्ध सीधे ज्ञान–विज्ञान तकनीक के क्षेत्र से होता है ज्यों विकास के चरण बढ़ते जाते हैं, इस प्रकार की भाषा की उपयोगिता भी बढ़ती जाती है। यह तथ्य भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि तकनीकी भाषा साहित्यिक भाषा से अलग करके नहीं देखी जा सकती। उसका तकनीकी क्षेत्र में प्रयोग उसके मूल संरचनात्मक स्वरूप को वैसा ही बनाए रखता है मात्र उसके प्रयोगजनक प्रकार्य का स्तर, क्षेत्र बदल जाता है।

आज यह बात किसी से नहीं छिपी है कि सूचना प्रौद्योगिकी का ऐसा विलक्षण विस्फोट हुआ, यह भारत में भी हुआ कि दुनिया में उसका महत्त्व स्वीकारा गया। आज बड़े–बड़े देश भारतीय तकनीकी को अपने यहाँ आमंत्रित करने में जुटे हैं। साथ ही हिन्दी का प्रयोग अब इन सभी क्षेत्रों में होने लगा है। आज ई–मेल हिन्दी में चल चुका है और उसका सार्वजनिक प्रयोग हो रहा है।

कम्प्यूटर आरम्भ में विदेशी यंत्र माना जाता था। 1984 में इसको लोगों ने देखा लेकिन यह अंग्रेजी का गुलाम था। कम्प्यूटर में न तो कभी हिन्दूस्तानी ज्ञान को महत्त्व दिया गया, न ही यहां की भाषा को, पर हमारे भारतीय इंजीनियरों ने 1983 में आई. आई. टी. कानपुर से एक ऐसी तकनीक विकसित की जिसके माध्यम से कम्प्यूटर हिन्दी की देवनागरी लिपि में तो काम कर ही रहा है, भारत की अन्य भाषाओं में भी कार्य कर रहा है। जिसका नाम हुआ 'जिस्ट कार्ड' यह कार्ड कम्प्यूटर के सी.पी.यू. अर्थात् केन्द्रीय संसाधक एकांश में लगाते ही अंग्रेजी जानने वाला कम्प्यूटर हिन्दी सीख जाता है और बड़ी सरलता से वह हिन्दी में काम करने लगता है। इसमें अहम योगदान रहा दो भारतीय सॉफ्टवेयर और हार्डवेयर कम्पनियों का जिन्होंने एम. ए. आई. टी और 'नाकॉम' से भारत भाषा नामक एक नई फॉण्ट प्रणाली का विकास किया है। जिसका परिणाम यह है कि हिन्दी का प्रयोग कम्प्यूटर पर बड़ी सहजता से होने लगा आज के समय में बैंक भी अपना कार्य हिन्दी में करने की कोशिश कर रहे हैं। बैंक के बाद कम्प्यूटर का प्रयोग सार्वजनिक रूप से रेल विभाग में प्रारम्भ हुआ। वह आरक्षण के क्षेत्र में प्रयुक्त हुआ फलतः वहां के

ISSN 2349-4905

कम्प्यूटर हिन्दी बोलने लगे और आरक्षण की स्थिति, गाड़ियों की स्थिति, आगमन प्रस्थान के विषय में जानकारी मिलने लगी।

भूमण्डलीकरण के इस परिवेश में हिन्दी विज्ञापन की सर्वश्रेष्ठ भाषा सिद्ध हो रही है। विज्ञापन विक्रय कला का मौखिक अथवा मुद्रित रूप है। किसी वस्तु या उत्पाद की बिक्री करने के लिए उपभोक्ता का ध्यान आकर्षित करने की कला वाणिज्य की शब्दावली में विज्ञापन कहलाती है। इसका उद्देश्य किसी उत्पादन को अधिकाधिक बाजार दिलवाना होता है। अतः विज्ञापन की भाषा रोचक, सरल, स्पष्ट और आम लोगों की भाषा होनी चाहिए। ताकि सामान्य जन विज्ञापित उत्पाद को सरलता से समझ सके। उत्पाद को लुभावना बनाने में हिन्दी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। विज्ञापन के क्षेत्र ने हिन्दी को अनुठे प्रयोग दिये हैं। जिससे इसकी अभिव्यंजना शक्ति में वृद्धि हुई है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं–

- सड़न से सुरक्षा कोने–कोने तक (कोलगेट)
- आप सोयेंगे तो देश कैसे जगेगा (टाटा चाय)
- तुफानी ठंडा (थम्स अप) या ठंडा मतलब (कोका कोला)
- चकमदार सफेदी (रिन)
- सन सनाती ताजगी (लिरिल)
- आपके सपने सिर्फ आपके नहीं (केनरा बैंक)
- अटूट बंधन, अटूट नेटवक्र (एयरटेल)

हिन्दी फिल्मों ने आजादी के बाद हिन्दी भाषा के प्रचार प्रसार में अहम योगदान दिया है, ऐसी मान्यता प्रचलित है। हिन्दी फिल्मों में हिन्दी भाषा की व्यापकता और प्रचुरता के ऐतिहासिक कारण है। आजादी से पहले हिन्दी फिल्मों के तीन गढ़ थे–मुम्बई, लाहौर, कोलकाता। इन निर्माण केन्द्रों क्षेत्रीय भाषाओं की स्वीकार्यता को देखते हुए फिल्मों की भाषा का लेखन हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं में रखने पर जोर दिया गया, ये तीनों केन्द्र हिन्दी भाषी नहीं थे लेकिन निश्चित रूप से लाभ कमाने के उद्देश्य से हिन्दी भाषी निर्माता–निर्देशकों ने फिल्मों की भाषा के रूप में हिन्दी को प्राथमिकता देना ही श्रेयष्कर समझा। इसके लिए लेखक नियुक्त किये जाते थे। उनका उद्देश्य यही रहता था कि निर्देशक और निर्माता की सोच को कहानी का रूप देकर उसे संवादों में पिरो सके।

खेल जगत में भी हिन्दी सर चढ़कर बोल रही है। खेलों की जानकारी, खेलते समय खिलाड़ियों की स्थिति, उनकी योग्यता, जय पराजय का आखों देखा हाल हिन्दी में दूरदर्शन पर दिखाया जाता है और आकाशवाणी पर सुनाया जाता है। अब वे ही शब्द बोले जाते हैं जो हिन्दी के हैं–बल्ला, गेंद, बल्लेबाजी, गेंदबाजी।

उसी प्रकार ट्रिपिल जम्प का त्रिकुट, लॉग जम्प का लम्बी कूद, हाई जम्प का ऊंची कूद साथ ही दौड़ा रन, पार, अनिणीति, श्रृंखला, पगबाधा शब्दों का प्रयोग हो रहा है। साथ ही अंग्रेजी के वे प्रचलित शब्द, जिन्हें आम आदमी भी समझ लेता है वे भी डटकर प्रयोग हो रहे हैं, विकेट, बेट, पिच, स्टम्प, अम्पायर, ओपनिंग हिन्दी की सामर्थ्य विकास का सही रूप यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली का बरबस हिन्दीकरण न किया जाए। जो शब्द जनता की चेतना में बैठे हैं, उन्हें उसी रूप में प्रयुक्त होने दिया जाय। जैसे कार, प्लेटफार्म, स्कूल, कॉलेज, केन्टीन, रेलवे लाइन, सिग्नल, टिकट आदि। इसके कारण हिन्दी की व्यावहारिक क्षमता का विकास ही होगा।

पहले भारत सरकार की भारतीय सांस्कृतिक संम्बन्ध परिषद विभिन्न देशों में तीन साल के लिए हिन्दी प्राध्यापक चुनकर भेजती थी, यह अब भी भेज

ISSN 2349-4905

रही है, पर अब अनेक देशों ने खुद भी नियुक्तियाँ करनी शुरू कर दी हैं। जापान, कोरिया, सिंगापुर में अब सीधे हिन्दी प्राध्यापक भर्ती हो रहे हैं। खाड़ी देशों के अलावा युरोप अमेरिका में भी हिन्दी शिक्षकों की माँग है।

सन्दर्भ

1. नगेन्द्र (1977), *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृ. 200
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1981), *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* नागरी प्रचारिणी सभा, 81, पृ. 317
3. डॉ. प्रणव शास्त्री (तिथिविहीन), शोध पत्र विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सम्प्रेषित, बाजारवाद और आधुनिक हिन्दी साहित्य दशा और दिशा, नामक शोध आलेक, पृ. 45
4. उपरिवत्, पृ. 46
5. आलोक मेहता (सं.), *आउटलुक,* नवम्बर, 2009 अंक 62, पृ. 14
6. रविन्द्र कालिया (2008), (सं.) *नया ज्ञानोदय साहित्यिक पत्रिका,* ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, मई, अंक 63, पृ. 102
7. वंशिनी शर्मा (1999), *विश्व हिन्दी भाषा,* केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा, पृ. 185
8. रवीन्द्र कालिया (2009) *नया ज्ञानोदय साहित्यिक पत्रिका,* ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, दिसम्बर अंक 82, पृ. 84
9. नरेश मिश्र (तिथिविहीन), *बाजारवाद और हिन्दी साहित्य सृजन परिवेश,* शोध आलेख, पृ. 17
10. प्रणव शास्त्री (तिथिविहीन), वही, पृ. 47

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

ISSN 2349-4905

पुस्तक समीक्षा

रोजमर्रा की जिंदगी, औद्योगिकी और औपनिवेशिक भारत का इतिहास

डॉ. शुभनीत कौशिक

सबाल्टर्न इतिहासकार डेविड आर्नाल्ड ने पुलिस पॉवर एंड कॉलोनियल रूल, कॉलोनाइजिंग द बॉडी और द ट्रोपिक्स एंड द ट्रेवेलिंग गेज सरीखी अपनी पुस्तकों के जरिये आधुनिक भारत, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से जुड़ी हमारी समझ को समृद्ध किया है। आर्नाल्ड की नवीनतम पुस्तक, एवरीडे टेक्नोलॉजीः मशीन्स एंड द मेकिंग ऑफ इंडियाज मॉडर्निटी (यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस से प्रकाशित) रोजमर्रा के जीवन में इस्तेमाल होने वाली प्रौद्योगिकी के बारे में है। आर्नाल्ड इस पुस्तक में सिलाई मशीन, टाइपराईटर, साइकिल और चावल मिलों का, जिन्हें वे "लघु प्रौद्योगिकी" की संज्ञा देते हैं, औपनिवेशिक भारतीय संदर्भ में अध्ययन करते हैं। 1880–1960 के बीच भारत में इस "लघु प्रौद्योगिकी" के प्रवेश, उसके इस्तेमाल और आम जिंदगी का अभिन्न अंग बन जाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया का विश्लेषण भी वे इस किताब में करते हैं।

आरंभ में ही, आर्नाल्ड स्पष्ट कर देते हैं कि उनका उद्देश्य उस प्रक्रिया को समझना है, जिसके तहत इन लघु मशीनों का इस्तेमाल आम जिंदगी का हिस्सा बना और यह जानना भी कि इन मशीनों का इस्तेमाल करने वाले लोग कौन थे और यह भी कि इन मशीनों ने आम भारतीयों की जिंदगी पर, आर्थिक–सामाजिक क्षेत्र पर, उत्पादन की प्रक्रिया पर और लोगों की कार्य–शैली पर क्या प्रभाव डाले। साथ ही वे यह जानने की कोशिश भी करते हैं कि इन मशीनों के इस्तेमाल और दैनंदिन जीवन में प्रौद्योगिकी के व्यवहार को वर्ग, नस्ल, जाति, जेंडर, राजनैतिक और सामाजिक अवधारणाओं ने किस तरह और किस हद तक प्रभावित किया (पृ. 4)।

आर्नाल्ड की रुचि 'स्थानीय संदर्भ को विश्लेषित करते हुए, वैश्विक संदर्भ की हमारी समझ को समृद्ध करने' में है। इसलिए वे प्रौद्योगिकी के उस इतिहास से परे जाने का प्रस्ताव करते हैं, जिसमें अभी तक पश्चिमी समाजों को ही वरीयता दी जाती रही है। उनके अनुसार, 'लघु प्रौद्योगिकी' का वैश्विक इतिहास लिखने के क्रम में स्थानीय के महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता। कारण कि अपनी सहज उपलब्धता और गतिशीलता के चलते, 'लघु प्रौद्योगिकी' स्थानीय लोगों के पेशों, मूल्यों, प्रेरणाओं और यहाँ तक कि उनकी भावनाओं से भी गहरे जुड़ी होती है। इस पुस्तक के केंद्र में यह प्रश्न है कि कैसे औपनिवेशिक भारत ने 'प्रौद्योगिकीय आधुनिकता' (टेक्नोलॉजिकल मॉडर्निटी) को अपनाया और इस पूरी प्रक्रिया में तथा आधुनिक भारत के निर्माण में "लघु प्रौद्योगिकी" और छोटी मशीनों ने क्या भूमिका निभाई। डैनियल हिड्रिक सरीखे विज्ञान के इतिहासकारों ने मशीनों को 'आधुनिकता के

ISSN 2349-4905

प्रतीक और औजार' के रूप में देखा है, आधुनिकता की प्रतीक ये मशीनें ही हमें औद्योगिक काल से पहले की की प्रौद्योगिकी से अलग कर देती हैं।

आर्नाल्ड के अनुसार 19वीं सदी के उत्तरार्ध से देश–काल, शरीर, स्व और 'अन्य' से जुड़ी हमारी अवधारणाओं को प्रौद्योगिकीय नवाचारों ने गहरे प्रभावित किया। साथ ही, हमारी रोजमर्रा की जिंदगी का अटूट हिस्सा बन जाने के चलते आधुनिक प्रौद्योगिकी आज भी हमारी विचार–प्रक्रिया को अनवरत प्रभावित कर रही है। आर्नाल्ड इस बात से अवगत हैं कि प्रौद्योगिकी समाज–सापेक्ष होती है और अलग–अलग समाजों में प्रौद्योगिकी भिन्न–भिन्न अर्थ और आयाम ग्रहण कर सकती है। साथ ही, वे जोड़ते हैं कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के आने का अर्थ यह कतई नहीं था कि पुरानी प्रौद्योगिकी अचानक लुप्त गई, बल्कि उसका अस्तित्व भी बना रहा। उल्लेखनीय है कि पश्चिमेतर समाजों में पाश्चात्य प्रौद्योगिकी को जस–का–तस नहीं अपनाया गया। बल्कि इन समाजों द्वारा पाश्चात्य प्रौद्योगिकी का अपनी जरूरत और सुविधा के अनुसार अनुकूलन, समायोजन और समावेश किया गया। अनुकूलन की इस प्रक्रिया में प्रौद्योगिकी ने बिलकुल अलग अर्थ और प्रयोग के भिन्न तरीके भी अख्तियार किए। स्थानीय आवश्यकता के अनुसार प्रौद्योगिकी में जरूरी बदलाव और अनुकूलन की इस प्रक्रिया को विज्ञान के इतिहासकारों ने "क्रेयोल प्रौद्योगिकी" की संज्ञा दी है।

आर्नाल्ड हमारा ध्यान उस रोचक प्रक्रिया की ओर भी खींचते हैं, जिसके अंतर्गत पारंपरिक समाजों में आधुनिक प्रौद्योगिकी को श्रद्धाभाव से देखा जाने लगा, यहाँ तक कि औजारों, मशीनों की पूजा भी की जाने लगी। बकौल आर्नाल्ड, प्रौद्योगिकीय आधुनिकता को "हर समाज ने अपनी मौलिकता और कलात्मकता, सामाजिक स्वामित्व और संस्कृति–बोध की अवधारणाओं से समृद्ध किया है।" उनकी दिलचस्पी प्रौद्योगिकी और राज्य–सत्ता के बीच अन्योन्याश्रित संबंधों को समझने के साथ ही उस प्रक्रिया को भी जानने–समझने में है, जिसकी वजह से आधुनिक मशीनों का रोजमर्रा की जिंदगी में अनिवार्य दखल हो गया। जिसके नतीजे में ये मशीनें न सिर्फ दैनंदिन प्रयोग की चीजें हो गईं बल्कि एक साझी सांस्कृतिक उपभोग की वस्तु (कल्चरल कमोडिटी) में तब्दील हो गईं। वे मानते हैं कि रोजमर्रा के जीवन में अपनी मौजूदगी दर्ज कराने के लिए किसी प्रौद्योगिकी का आकार में बड़ा होना कतई जरूरी नहीं है, बल्कि छोटे उपकरण भी तेजी से दैनंदिन जीवन में स्वीकार्यता हासिल कर लेते हैं। डेविड आर्नाल्ड के लिए प्रौद्योगिकी का इतिहास महज भौतिक वस्तुओं और भौतिक प्रक्रियाओं का इतिहास भर न होकर, मानव–समाज की कल्पनाओं, उसके अनुभवों और सामाजिक परिवर्तनों का भी इतिहास है।

आर्नाल्ड इस किताब में उस धारणा को चुनौती देते हैं, जिसके अंतर्गत अक्सर यह मान लिया जाता है कि प्रौद्योगिकी से जुड़े अनुभव मध्यवर्गीय और नगरीय दायरों तक ही सीमित रहे हैं, खासकर औपनिवेशिक काल के दौरान। वे सप्रमाण यह दिखाते हैं कि विज्ञान व प्रौद्योगिकी के अनुभव, ग्रामीण क्षेत्रों और हाशिये के समुदायों के अनुभवों का भी हिस्सा थे। औपनिवेशिक और उत्तर–औपनिवेशिक समाजों में, प्रौद्योगिकी की संस्कृति की समझ कोई एकाश्मी (मोनोलिथिक) समझ न होकर, प्रौद्योगिकी से जुड़े अनुभवों और उसके सामाजिक–सांस्कृतिक बोध से समृद्ध एक बहुलतावादी समझ थी। प्रौद्योगिकी के इतिहास पर पहले लिखी गई किताबों के बरक्स, जिनके अध्ययन का केंद्र या तो उद्योग होते हैं अथवा प्रौद्योगिकी के प्रसार में राज्य की भूमिका, आर्नाल्ड रोजमर्रा के अनुभवों और दैनंदिन प्रत्यक्षीकरण को

ISSN 2349-4905

समझते हुए, प्रौद्योगिकीय आधुनिकता को समझने का प्रस्ताव करते हैं। और इसके लिए वे चुनते हैं चार उदाहरण – सिलाई मशीन, टाइपराईटर, साइकिल और चावल मिल। ये चारों ही उदाहरण, अलग–अलग किस्म की प्रौद्योगिकी और मशीनों के सामाजिक प्रयोग के भिन्न पैटर्न को दर्शाते हैं।

इन चार उदाहरणों के जरिये, आर्नाल्ड यह दिखाते हैं कि किस तरह दैनंदिन प्रौद्योगिकी ने आम भारतीय जीवन में, अंतरंगता की अवधारणाओं, पारिवारिक जीवन और घरेलू जिंदगी से जुड़े भिन्न–भिन्न पक्षों में उल्लेखनीय बदलाव लाये हैं। इस प्रौद्योगिकीय अनुभव का हिस्सा बनने का मौका उन वंचित तबकों को भी मिला, जो अब इन मशीनों को खरीद सकते थे, या उन्हें किराये पर ले सकते थे और इस तरह 'आधुनिकता का प्रतीक' बन चुकी इन मशीनों पर स्वामित्व जतला सकते थे। इसलिए आर्नाल्ड ठीक ही लिखते हैं कि "प्रौद्योगिकी महज कल–कारखानों की दुनिया तक सीमित न होकर, सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया और राजनीतिक सत्ता के व्यवहार की भी सूचक है।" (पृ. 12)

आम लोग किस तरह किसी प्रौद्योगिकी–विशेष से खुद को जोड़ते हैं या उसके प्रयोग के लिए जरूरी कौशलों को सीखते हैं और प्रौद्योगिकी के अनुभव की प्रक्रिया का हिस्सा बनते हैं, या फिर इन सबसे खुद को अलग रखते हैं, यह सारे ही प्रौद्योगिकी के इतिहास को प्रभावित करने वाले कारक हैं। क्योंकि "प्रौद्योगिकी हमारी भावी–दृष्टि को समृद्ध कर सकती है, अतीत की हमारी व्याख्याओं को रंग दे सकती है, और वर्तमान की हमारी आकांक्षाओं–अपेक्षाओं को आकार दे सकती है।" (पृ. 15) कभी विज्ञान के इतिहासकार, माइकल अदास ने प्रौद्योगिकी को साम्राज्यवादी सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में देखा था, आर्नाल्ड अपना ध्यान साम्राज्य की बजाय उपनिवेश पर केन्द्रित करते हैं और उपनिवेशों में प्रौद्योगिकी के इतिहास को दैनंदिन अनुभवों के जरिए समझना चाहते हैं। वे ऐसे "सामाजिक–तकनीकी इतिहास" पर जोर देते हैं, जिसमें समाज और प्रौद्योगिकी को परस्पर जोड़कर देखा जाय। (पृ. 42)

वे औपनिवेशिक भारत में प्रौद्योगिकी से जुड़ी अवधारणाओं और विचारों का अध्ययन करने के क्रम में, औपनिवेशिक प्रशासकों, अधिकारियों, राष्ट्रवादी नेताओं जैसे महात्मा गाँधी, मेघनाद साहा सरीखे भारतीय वैज्ञानिकों, बेगम रोकेया शेखावत हुसैन सरीखी नारीवादी समाज–सुधारकों के प्रौद्योगिकी से जुड़े विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। गाँधी और बेगम रोकेया के विचारों की तुलना करते हुए, आर्नाल्ड कहते हैं कि प्रथमदृष्टया ये विचार भले ही परस्पर विरोधी लगें, पर दोनों के विचारों में प्रौद्योगिकी और भविष्य के भारत में इसकी भूमिका को लेकर एक साझी चिंता है (पृ. 19)। बंगाल में शुरू हुए स्वदेशी आंदोलन के कार्यक्रमों का भी एक अहम हिस्सा थाः प्रौद्योगिकी के संबंध में जागरूकता को बढ़ावा देना। जहाँ एक ओर गाँधी ग्रामीण और विकेंद्रीकृत समाज के पक्षधर थेय वहीं दूसरी ओर मेघनाद साहा सरीखे वैज्ञानिक सामाजिक–आर्थिक समस्याओं, यहाँ तक कि राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए भी, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल और राज्य के मार्गदर्शन में भारत के तीव्र औद्योगीकरण, बड़ी सिंचाई परियोजनाओं और बाढ़–नियंत्रण के हिमायती थे। उल्लेखनीय है कि अधिकांश औपनिवेशिक अधिकारी, भारत में पड़ने वाले अकालों और भारत की गरीबी के लिए औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के शोषक चरित्र को दोष देने की बजाय, भारत में कृषि प्रणाली की अक्षमता और खेती की आदिम तकनीकों को ही जिम्मेवार ठहराते थे और राज्य की जवाबदेही से कन्नी काटते थे।

ISSN 2349-4905

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश राज ने भारत में और साम्राज्य के अन्य हिस्सों में, प्रौद्योगिकी से जुड़े "मेलों और प्रदर्शनियों" का आयोजन शुरू किया। इतिहासकार बर्नार्ड कोहन ने अपनी पुस्तक, कॉलोनियलिज़्म एंड इट्स फॉर्म्स ऑफ नॉलेज में इन प्रदर्शनियों को "औपनिवेशिक ज्ञान का प्रदर्शनी मोड" होने की संज्ञा दी है। इन भव्य प्रदर्शनियों का आम भारतीयों की रोजमर्रा की जिंदगी और उनकी व्यावहारिक जरूरतों से कोई लेना–देना नहीं था। असल में, ये भव्य प्रदर्शनियाँ और बड़ी परियोजनाएं तो साम्राज्यवादी शासन के भौतिक संसाधनों और राजनीतिक सत्ता की अभिव्यक्ति और प्रतीक थीं।

'लघु प्रौद्योगिकी' की बात करें तो सिलाई मशीन जैसी छोटी मशीन ने भारतीयों की पहनावे की पारंपरिक शैली और औरतों की वेश–भूषा में आमूलचूल बदलाव तो किए ही, साथ ही, सिलाई मशीन ने कपड़ा उद्योग की कार्य–शैली और संरचना को भी प्रभावित किया। सिलाई मशीन उन पहली मशीनों में थी, जिन्हें पहले–पहल एक वैश्विक बाजार मिला, जिसने घर के दायरों के भीतर प्रवेश किया और महिलाओं के लिए उपयोगी बनी। वहीं, साईकिल ने मर्दों और बच्चों को, और बाद में लड़कियों और औरतों को भी, न सिर्फ गतिशीलता के एक नए अनुभव से दो–चार कराया, बल्कि सामाजिकता को बढ़ाने और सार्वजनिक जगहों पर असरदार मौजूदगी का माध्यम भी बनी। टाइपराइटर को दुनिया भर में इसकी गति, सुविधा, उपयोगिता और कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में 'आधुनिकता का पर्याय' समझा जाने लगा। आर्नाल्ड बताते हैं कि दुनिया के कई सारे देशों में टाइपराइटर ने महिलाओं को कार्यालयों में जगह दिलाई। कहना न होगा कि इन मशीनों ने एक नई सामाजिकता का भी सूत्रपात किया।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से भारत में चावल मिलों का प्रादुर्भाव हुआ। चावल मिलों की प्रौद्योगिकी का नकल करना अपेक्षाकृत सरल था। कार्य करने वालों की संख्या के आधार पर चावल मिलें औपनिवेशिक भारत का छवां सबसे बड़ा उद्योग थीं। औपनिवेशिक दक्षिण भारत में, इन चावल मिलों का स्वामित्व अधिकतर धनाढ्य किसानों और व्यापारी समुदाय के हाथ में था, ये वे लोग थे, जिन्होंने अलाभकारी खेती के बदले लघु उत्पादन इकाईयों व उद्योगों को तरजीह दी थी। इन छोटी मशीनों की सफलता में इनकी विविधता, इनकी कम लागत, थोड़े–से पूंजी निवेश और न्यूनतम कौशल की जरूरत का भारी योगदान था।

इस पुस्तक का सबसे विचारोत्तेजक अध्याय वह है, जिसमें आर्नाल्ड प्रौद्योगिकी और उससे सम्बद्ध नस्ल व जेंडर संबंधी अवधारणाओं की पड़ताल करते हैं। वे बताते हैं कि प्रौद्योगिकी से जुड़ी नस्ल या जेंडर संबंधी अवधारणाएँ, महज उपनिवेशवाद की देन न होकर, भारतीय समाज में सदियों से स्थापित जेंडर और समुदाय की अवधारणाओं और मान्यताओं से भी निर्धारित हुईं। इसके लिए वे सिंगर (सिलाई मशीन), रेमिंगटन (टाइपराइटर) और रैले (साईकिल) जैसी कंपनियों के विज्ञापनों, उनकी बाजार नीतियों और विक्रय के तरीकों का भी दिलचस्प अध्ययन करते हैं। वे पाते हैं कि जहाँ एक ओर योरोप में सिलाई मशीन की कंपनियों ने महिलाओं को अपना प्रमुख ग्राहक समझा, वहीं भारत में सिलाई मशीन कंपनियों के जेहन में हमेशा पुरुष दर्जी ही छाए रहे। औपनिवेशिक भारत में अगर सिलाई मशीन की महिला ग्राहकों के बारे में ध्यान गया भी तो योरोपीय और यूरेशियाई–एंग्लो–इंडियन महिलाओं की तरफ ही। यही बात कार्यालयों के संबंध में भी लागू होती थी, जहाँ हिन्दुस्तानी टाइपिस्ट महिलाओं

ISSN 2349-4905

की बजाय, योरोपीय और यूरेशियाई महिलाओं को तरजीह दी गई। यहाँ यह बताना भी उचित होगा कि अनेक भारतीय समाज–सुधारकों ने भी सिलाई मशीन को महिलाओं के लिए एक बेहतर एवं उपयोगी प्रौद्योगिकी माना था। प्रौद्योगिकी और दहेज–प्रथा के सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए आर्नाल्ड इसी पुस्तक में लिखते हैं "दहेज प्रथा जल्द ही उन सामाजिक प्रक्रियाओं में बदल गई, जिन्होंने उपभोग की नई वस्तुओं को मध्यम–वर्गीय भारतीय परिवार तक पहुंचाया।" (पृ. 81) उनका इशारा उस समय दहेज में दी जाने वाली सिलाई मशीन, साइकिल, ग्रामोफोन, रेडियो आदि की तरफ है। कहना न होगा कि आज यह सूची बहुत लंबी हो चुकी है।

साइकिल यातायात को सुगम बनाने और स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभदायक होने के साथ–साथ जल्द ही राजनीतिक रैलियों, प्रतिरोधों में शामिल होने का माध्यम बन गई। आर्नाल्ड महिलाओं और लड़कियों को साइकिल चलाने से वंचित रखने की पितृसत्तात्मक सोच पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, "जहाँ युवकों के लिए साइकिल रोमांचपूर्ण साहसिक यात्राएं करने का माध्यम बन गई, वहीं लड़कियों और महिलाओं के लिए ये उनके जीवन पर पितृसत्ता द्वारा थोपे गए अवरोधकों की प्रतीक बन गई।" (पृ. 85)

यह किताब उन भारतीय एजेंसियों और समुदायों (खासकर पारसी समुदाय) के बारे में भी है, जिन्होंने इन वैश्विक उपभोग की वस्तुओं को भारत के स्थानीय बाजारों में बेचा, और इस तरह दैनंदिन प्रौद्योगिकी को लोकप्रिय बनाने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। आर्नाल्ड उस पूरी प्रक्रिया का जायजा लेते हैं, जिसके अंतर्गत विज्ञापनों और अखबारों ने इन मशीनों को "स्वदेशी" उत्पाद बनाने में और इन्हें "भारत के लिए, भारत में, भारतीयों द्वारा निर्मित" उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करने में, और इस तरह 'लघु प्रौद्योगिकी' के लिए भारतीय ग्राहकों का एक वर्ग तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आर्नाल्ड के अनुसार जहाँ कुछ लोगों ने आधुनिक मशीनों को सामाजिक सुधार के वाहक के रूप में देखा और उन्हें जेंडर, वर्ग और राष्ट्र के लिए हितकारी मानते हुए उनका स्वागत किया, वहीं कुछ अन्य लोगों ने मशीनों की यह कहकर आलोचना की कि ये मशीनें साम्राज्यवादी शोषण की परिचायक थीं। मसलन, प्रौद्योगिकी के राष्ट्रवादी आलोचकों ने चावल मिलों की आलोचना करते हुए, उन्हें महिलाओं की बेकारी के लिए जिम्मेवार ठहराया क्योंकि चावल मिलों के प्रादुर्भाव से पहले चावल कूटने का काम मुख्यतः महिलाएं ही करती थीं।

आर्नाल्ड के अनुसार, आधुनिक मशीनों और आधुनिक राज्य का विकास एक–साथ हुआ और दोनों ने ही, एक–दूसरे को मजबूती दी। आधुनिक मशीनों तक अपनी पहुँच के जरिये औपनिवेशिक राज्य ने अपने प्राधिकार (अथॉरिटी) को न सिर्फ बढ़ाया बल्कि उपनिवेशों की जनता को अनुशासित करने और उन्हें नियंत्रित करने की भी कोशिश की। राज्य द्वारा आधुनिक मशीनों के जरिये अपने नागरिकों पर नियंत्रण की कोशिश उत्तर–औपनिवेशिक राज्यों के बारे में उतनी ही सच है जितनी कि औपनिवेशिक राज्य के बारे में। बकौल डेविड आर्नाल्ड, भारत में रोजमर्रा की प्रौद्योगिकी का इतिहास 'प्रौद्योगिकी द्वारा मुहैया कराये गए अवसरों और उनसे उपजे द्वंद्वों से, भारत के जूझने का इतिहास है।'

ISSN 2349-4905

औरंगजेब : द मैन एण्ड द मिथ

लेखक आड्रे ट्रास्की, पेंग्विन वाइकिंग भारत, 2017 (परिचय 14+189 पृष्ठ)

डॉ. मनीषा चौधरी

मुबारक! शहजादे औरंगजेब पैदा हुए। आशा की जाती है कि यह इस चिरकालिक राजवंश (मुगल सल्तनत) के लिए सौभाग्यशाली और शुभ साबित हो (औरंगजेब के जन्म के समय जहांगीर द्वारा कहे गए शब्द पृ. 21) मैं इस पुस्तक की समीक्षा करने का प्रयास कर रही हूँ और मैं यह आशा करती हूँ कि यह हमारे चिरकालिक और अतुल्य भारत के लिए सौभाग्यशाली और शुभ साबित हो क्योंकि इस पठनीय पुस्तक के माध्यम से हम औरंगजेब के जीवनकाल का सजीव चित्रण देख सकते हैं। औरंगजेब को हमेशा ही मध्यकालीन भारत में हुए गलत कामों की चेतना का आवाहन करने के लिए याद किया जाता है। सामान्य पाठकों के लिए यह पुस्तक, औरंगजेब को बेहतर समझने के लिए पठनीय सामग्री का काम करेगी, जिसने इतिहास में हमेशा से ही 'एकमात्र हठी क्रूर' शासक होने का दर्जा पाया है। दुखद है कि अन्य किसी पहलू पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। अत्यंत ध्यानपूर्वक चुनी गई, मुगल लघुचित्रों की सात तस्वीरें, शासक और उनकी स्वाभाविक रूचि और समझ के विषय में बहुत कुछ कहती हैं। यह बहुत से लोगों के लिए अच्छा अनुस्मारक है (जो इससे अवगत हैं या नहीं) कि औरंगजेब का अपनी जन्मभूमि गुजरात से गहरा संबंध रहा है। वह उस समय के हिन्दुस्तान के हर हिस्से जैसे बल्ख, कंधार, गुजरात, मुल्तान, दक्कन (पृ. 26) में कार्यरत रहा और सेवा की, जो कि उसे असली कर्मयोगी और मिट्टी का सपूत बनाता है। यह पुस्तक संक्षिप्त में औरंगजेब के व्यक्तिगत की व्याख्या करती है जिसके अनुसार औरंगजेब, रूमी की कृतियों से प्रभावित थे (पृ. 22), अच्छी हिन्दी भाषा बोलने वाले मुगल थे (पृ. 22), जिन्हें राजदरबार से दूर रखा गया, जीत से दूर रखा गया और इनके पिता इनको पसंद नहीं करते थे (पृ. 26), एक बादशाह जो कि टोपियाँ सिलते थे (पृ. 18), और दिन में दो बार दरबार लगाते थे (पृ. 63), स्वयं पत्र लिखा करते थे (पृ. 51, 124, 125, 127 आदि)। लेखिका को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि वे औरंगजेब और अन्य मुगल सम्राटों के बीच संतुलन दिखानें में सफल रही क्योंकि सभी मुगल सम्राटों ने सिंहासन के लिए लड़ते हुए अपने भाइयों के साथ एक–सा ही व्यवहार किया (सिंहासन के दावेदारों की हत्या)। इसलिए यह कहना गलत होगा कि केवल औरंगजेब के हाथों में ही उसके अपने भाइयों का खून लगा था और केवल वहीं इसके लिए जिम्मेदार था, लेकिन वास्तव में ''या तख्त या ताबूत'' की मुगल हुकुमत नीति को औरंगजेब (पृ. 35–42) और उनके पूर्वजों द्वारा की गई हत्याओं के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है (पृ. 28)। आज तक इतिहास में दर्ज, औरंगजेब के

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005, वेबसाइट : www.iias.ac.in

ISSN 2349-4905

सिंहासन पर बैठने पर हुई रासायनिक प्रतिक्रिया को कम करने के लिए सिंहासन के लिए हुए ऐसे सभी संघर्षों को सामने लाने का प्रयास किया जा सकता था ताकि केवल औरंगजेब को हत्यारा साबित करना रूक सके और इसे मध्यकालीन राजनीति का एक पहलु समझा जाए।

किसी भी इंसान का जीवन प्रशंसाओं, पसंद, नापसंद, असफलताओं और खेद का मिश्रण होता है, औरंगजेब भी इनमें से किसी से अछूते नहीं थे। उम्रदराज शासक की खुशी के पल और खेद प्रभावशाली हैं, जिनमें आमों के लिए गुजारिश करना, उनके पुत्र द्वारा उन्हें 'बाबूजी' कहना, उदयपुरी का साथ और मुअज्जम को डांटना, अदक्ष और नाकाबिल पुत्र जो कि मुगल साम्राज्य के तख्त पर बैठने के लायक नहीं थे, के प्रति चिंतन (पृ. 122–24), बुरे प्रशासनिक अधिकारी, सड़े हुए आम (पृ. 139), हीराबाई जेनाबबाड़ी के साथ प्रेम संबंध (पृ. 26), विद्रोही पुत्र (पृ. 48) शामिल हैं। औरंगजेब द्वारा बीदर बख्त को 'जिस्म तोल' के संबंध में दी गई सलाह जिसे भारतीय मुगल परंपरा का हिस्सा माना जाता है, काफी रूचिकर हैं (पृ. 125–6)। यह स्पष्ट रूप से रीति–रिवाजों और उनसे जुड़ी सामाजिक और आर्थिक जरूरतों के विषय में बादशाह की समझ को दर्शाता है और इसके साथ ही उन्होंने अपने पोते (बिदर बख्त) को यह संस्कार वर्ष में चौदह बार करने का निर्देश दिया, जो उनके पूर्वजों द्वारा केवल साल में एक या दो बार ही किया जाता था। इसमें बादशाह औरंगजेब का एक सच्चा स्वीकरण देखा जा सकता है कि उनकी पैतृक भूमि में यह रीति–रिवाज नहीं थे (पृ. 22) लेकिन लेखिका यह उजागर करने में असफल रही हैं कि संस्कार को रद्द करने के क्या कारण थे? जिन्हें समझना वास्तविक मौजूदा शोध की जरूरत था जो टूटी हुई कड़ियों के फासले को कम कर सकता था। मुगल दस्तूरों को बंद करने और पुनः चालू करने का ब्योरा एक विमूढ़ शासक द्वारा किए गए प्रयोग को दर्शाता है, मैं समझती हूँ कि औरंगजेब इतने नासमझ नहीं थे। इसी तरह का व्यवहार संगीत और बादशाह का संगीत से संबंध में भी किया गया (संगीत विशेषज्ञ, संगीत पर प्रतिबंध लगाना और उदापुरी–एक नाचने–गाने वाली से प्रेम, पृ. 137)। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक घटनाओं को ऐतिहासिक समान क्रम में रखना, औरंगजेब और राष्ट्र के प्रति उनके द्वारा किए गए प्रयासों को समझने में पाठकों के लिए बेहतर ढंग से मददगार साबित होता। घटनाक्रमों के प्रति उदासीनता दिखती है।

यह पुस्तक आज की सामाजिक उथल–पुथल को देखते हुए बाजार में आयी है। जब विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के, बहुमत प्राप्त शासन करने वाले दल ने राजधानी दिल्ली में औरंगजेब रोड़ का नाम बदल कर ए.पी.जे कलाम रोड़ रख दिया है (यह मेरी व्यक्तिगत सोच है कि यह राष्ट्र नायक– दूरदर्शी, एक शिक्षाविद् और मिसाइल मैन – कलाम इससे कहीं अधिक सम्मान के योग्य है)। यह सामाजिक रूप से जागरूक और संवेदनशील इतिहासकार की रचना है जिसने समय रहते दखलअंदाजी की और कही–कहाई बातों के आधार पर इतिहास को मरने नहीं दिया। मुगल बादशाह औरंगजेब के व्यक्तित्व को उजागर करने वाली उपमाएँ और कहावतें, जो कि बहुत कम सामने लाई गई हैं, और इन तथ्यों को समझने के लिए काफी लम्बे समय से प्रतीक्षा थी (पृ. 35,44,51,83 और 115) ।

औरंगजेब के न्यायिक दृष्टिकोण को केवल 'बड़े पैमाने पर इस्लामी परंपरा से ओत–प्रोत (पृ.12) कह कर व्यक्त किया गया है जो कि मुगल बादशाह के दृष्टिकोण को समझने के लिए बहुत कम है

 ISSN 2349-4905

जिन्होंने 1690 ईसा पश्चात् अपना प्रसिद्ध फरमान जारी करके अय्मा अनुदान को वंशानुगत बनाया और काजी से न्याय दिलाने के लिए लगातार घोषणा कर रहे थे। एक अन्य स्थान पर लेखिका ने पुनः औरंगजेब के न्याय के दृष्टिकोण को तीन मानदण्डों के माध्यम से मापने की कोशिश की है (पृ. 19) और यह अंतर्द्वंद्व को दर्शाता है । यह अध्ययन, कोई भी नई जानकारी सामने लाने में असफल रहा और औरंगजेब द्वारा की गई कार्रवाईयों के पीछे छुपे तथ्यों और कारणों पर भी चर्चा नहीं की गई है। उदाहरण के लिए, नए मंदिरों के निर्माण पर रोक लगाने (पृ. 106), मंदिरों को ध्वस्त करने (पृ. 198–110) और खंडहरों पर मस्जिदों का निर्माण करने के कारण नहीं बताए गए, जोधपुर और खंडेला को ध्वस्त करने (पृ. 110) का भी कोई तर्क नहीं दिया गया है। घटनाओं को तर्कसंगत रूप से देखने के लिए कोई भी नए ऐतिहासिक आँकड़े सामने लाए बिना मंदिरों और मस्जिदों के मुद्दे उठाते हुए लेखिका, आंतरिक अशांति और भारत के सामाजिक परिवेश के विषय में औपनिवेशिक व्याख्या करने तक ही सीमित रही हैं। यह रचना, औरंगजेब पर उपलब्ध सभी मौजूदा द्वितीयक रचनाओं का अच्छा सार है लेकिन यह शोध अधूरे तथ्यों पर प्रकाश डालने में असफल है। मुख्य पात्र औरंगजेब के व्यक्तित्व को प्रकाश में लाने के लिए लेखिका, दारा शिकोह की शासन क्षमता के बारे में बिना कोई तथ्य दिए आलोचनात्मक हो जाती है।

पुस्तक में दी गई बादशाही मस्जिद, विश्व की सबसे बड़ी मस्जिद (आकृति 3) की तस्वीर मुझे दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद की याद दिलाती है और एक उत्सुक पर्यवेक्षक लिए दोनों मस्जिदें वास्तुकला की दृष्टि से समान हैं। इसी प्रकार बीबी का मकबरा, ताजमहल जैसी इमारत बनाने का एक प्रयास था। क्या औरंगजेब अनजाने में ही अपने पिता शाहजहाँ की नकल कर रहे थे या फिर बादशाह अपने पिता के मूक प्रशंसक थे? यह अध्ययन, भारतीय उपमहाद्वीप में विभिन्न तरीकों से औरंगजेब को और उनके सहयोग को श्रेय देने का प्रयास है जिसे भारतीय इतिहासकारों ने लंबे समय से अनदेखा किया हुआ है। यह पुस्तक आगे शोध करने और घटनाओं के क्रम को देखने के लिए बहुत सी राहें खोल लेती है ताकि एक योग्य प्रशासक के द्वारा की गई कार्यवाहियों को तर्कसंगत रूप से समझा जा सके, बजाय इसके कि उन्हें और उनके शासन को कट्टर माना जाए। औरंगजेब ने पत्र के माध्यम से स्वयं अपने पिता को लिखा था कि ''एक महान योद्धा हमेशा एक महान राजा नहीं बन सका'' यानि वह समझने कि कोशिश कर रहा है कि वह राजा है या योद्धा ?

यह कहा जा सकता है कि यह समय पर आयी, पठनीय फॉन्ट और सरल प्रवाह में उपलब्ध रचना है। यह पाठकों के लिए औरंगजेब के व्यक्तित्व को जानने का अच्छा व्याख्यान है जो कि मुगलिया सल्तनत के तख्त के दावेदार थे, जो युद्ध में जीतें हासिल करते थे, स्वयं को योग्य प्रशासक सिद्ध करके, पक्षपात की विशाल मुगल राजनीति में स्वयं के लिए स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। औरंगजेब का विश्वास था कि ''वही एक महान राजा है जो अपने अधीनस्थों को समता के साथ शासित करने मात्र को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है" (पृ. 47 शाहजहाँ को पत्र)। औरंगजेब और उनके द्वारा की गई कार्यवाहियों पर चढ़ी मोटी परत को उतारने के लिए आज के समय में एक व्यवस्थित शोध की आवश्यकता है। इस बात पर कोई संदेह नहीं है कि हिन्दुस्तान के यह बादशाह सज्जनता, क्रूरता और उग्रता (पृ. 39) के बीच फँसे हैं और उनके जीवन की जटिलता सजीव

 ISSN 2349-4905

तथ्यों से झलकती है जैसे कि विश्व की सबसे बड़ी मस्जिद के निर्माता औरंगजेब ने अपने अंतिम दिनों में लिखा था कि ''मैं एक अजनबी की तरह आया और एक अजनबी की तरह चला जाऊँगा'', और इस कथन की ओर धकेलते हुए औरंगजेब खुल्ताबाद (औरंगाबाद –52 द्वारों का शहर) की एक बेनाम कच्ची कब्र में दफन हैं।

द मुस्लिम क्वेश्चन : अंडरस्टैण्डिग इस्लाम एण्ड इण्डियन हिस्ट्री

रज़ीउद्दीन अक़ील, पैंग्विन बुक्स इण्डिया, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ xi + 289

डॉ. शम्स तबरेज़

वैचारिक संघर्षों और पहचान की राजनीति में इतिहास का इस्तेमाल एक हथियार के रुप में किया जाता है। धार्मिक राजनीति से जुड़े महत्त्वपूर्ण मुद्दों में इतिहास का दुरुपयोग खास तौर से देखने को मिलता है। सार्वजनिक बहसों में उपयोग किए जाने वाले एजेंडा से प्रेरित इतिहास में ऐतिहासिक यथार्थ या सच्चाई के सवाल को ताक पर रखकर लोगों की भावनाओं और समय की आवश्यकताओं पर जोर दिया जाता है। इस तरह की बहसों में, साक्ष्यों और तथ्यों के आधार पर अतीत की घटनाओं के सटीक ज्ञान के बजाय, राजनीति से प्रेरित राय या परिप्रेक्ष्य को थोपने का प्रयास किया जाता है। कुछ इसी तरह की कहानी हिंदुस्तान में इस्लाम के आगमन को लेकर है जो कि अक्सर विभिन्न कारणों से चर्चा का विषय बनी रहती है। इस्लाम और इसके सहवर्ती प्रसार के अध्ययन ने विद्वानों और सामान्य लोगों की रुचि जागृत की है।

इस सन्दर्भ और रूचि में रजीउद्दीन अकील की किताब द मुस्लिम क्वेश्चन : अंडरस्टैण्डिग इस्लाम एण्ड इण्डियन हिस्ट्री, अकादमिकों तथा आम पाठकों की प्रभावी रूचि को आकर्षित करती है। यह पुस्तक, कथित रूप से, इतिहास के राष्ट्रवादी–धर्मनिरपेक्ष किस्म के प्रतिरूप के रूप में लिखी गई है, जो इस्लाम के आगमन से लेकर वर्तमान समय तक के काल को समर्पित है। इस दौरान के राजनैतिक इस्लाम के आगमन से उत्पन्न ऐतिहासिक मैट्रिक्स के बारीकियों को उजागर करती है। जैसा कि लेखक खुद लिखते हैं कि उनकी परियोजना का मकसद मध्यकालीन भारत के एजेंडा–संचालित पारंपरिक तथा संकीर्ण इतिहास के बजाय, इस्लाम और मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर बड़े सवालों के बारे में सोचने के लिए है। ऐसे सवाल बल्कि गंभीर चिंता का विषय हैं जो एक जटिल अतीत और उसके विवादास्पद विरासत की समझ समकालीन प्रतिबिंबों के अवलोक में बनाने के लिए निहायत जरूरी हैं। लेखक विशेष रूप से मुगल–केंद्रित इतिहास लेखन और मध्ययुगीन भारत में फारसी भाषा पर अत्यधिक जोर देने की प्रवृति से चिंतित हैं। उनके हिसाब से क्षेत्रों तथा पूर्व–मुगल

ISSN 2349-4905

काल की जानबूझकर की गयी उपेक्षा मध्ययुगीन भारत के बहुलतावादी विद्वत परंपरा को बनाये रखने का प्रयास है। साथ ही साथ अकील देशज साहित्य की अनदेखी पर भी सवाल उठाते हैं। पुस्तक उत्तर भारत में मुस्लिम इतिहास और संस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की व्याख्या करने का एक प्रयास है जो कि उपमहाद्वीप में इस्लाम की राजनीति की जड़ों को समझने में काफी कारगर साबित होगी। इन मुद्दों में अदब/अखलाक साहित्य (राजनीतिक ग्रंथ) में शरीयत के प्रतिस्पर्धात्मक रूप, उलेमा के विभेद–मतभेद, विचलित और सक्रिय सूफी परंपरा, मध्ययुगीन भारत में फारसी का प्रभुत्व, और मुगल पतन के मद्देनज़र देशज भाषाओं की शानदार वृद्धि शामिल हैं।

पुस्तक की शुरुआत से ही लेखक गंभीर अकादमिक मानक अनुसंधान मोनोग्राफ के लेखन शैली के विपरीत आसानी से समझने योग्य शब्दावली और मुहावरों के प्रयोग से सामान्य पाठक के लिए अध्यायों और इसके पढ़ने को सहज बनाता है। यद्यपि कई स्थानों पर इतिहासकार सामान्यीकरण करता हुआ दिखाई देता है लेकिन यह स्थापित ऐतिहासिक आख्यानों पर सवाल उठाने और एक बहस कायम करने में सफल होता है। मिसाल के तौर पर वह लिखते हैं, 'मुस्लिम शासकों ने हिंदुस्तान में कोई क्रांति नहीं लाई ....या फिर भी उनकी उपस्थिति ने राजनीतिक संस्कृति के इस्लामीकरण या फारसीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई (पृष्ठ 2)। हालाँकि हमें तुर्की शासन के नगर केंद्रित राजनीतिक अभिजात वर्ग के आने के साथ उत्पन्न शहरीकरण, नकदी–सांठगांठ और मुद्रीकरण के दायरे के फैलाव को ध्यान में रखना चाहिए।

दूसरे अध्याय 'सूफी ट्रेडिशंस एण्ड द इमरजेंस ऑफ द इस्लाम इन द सबकांटीनेंट' में, लेखक न केवल मौजूदा विद्वत्त की स्थिति की व्याख्या करता है, बल्कि मध्ययुगीन काल में सांप्रदायिक संबंध की जटिलताओं को स्पष्ट करने और बारीकियों को समझने के लिए सबूत भी देता है। इस अध्याय में, वह जनसाधारण के इस्लामीकरण में सूफियों की भूमिका पर जोर देता है। वह न सिर्फ इस काल के कुछ साहित्यों के जाली कह कर नकार दिए जाने पर सवाल उठाते हैं बल्कि इस बात की व्याख्या भी करते हैं कि अतीत के निर्माण के स्रोत के रूप में उन्हें क्यों नहीं छोड़ना चाहिए। यह स्पष्ट है कि किसी भी सामग्री का ऐतिहासिक स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है जब तक कि किसी को उस साहित्य की मूल, रचना की तारीख और कथा के औचित्य का पता नहीं चल जाता है। बेशक, 'जाली' सूफी सम्बंधित साहित्यिक सामग्री की प्रचुर मात्रा में उपलब्धता के लिए स्वयं के स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है, यह चिंतन मनन का विषय है कि इस तरह के साहित्य के लिए एक बाजार क्यों था और वे कैसे उत्पादित होते हैं? शासन और गैर–मुस्लिमों के लिए शरीयत के सख्ती से लागू करने के विषय में उलेमा के जोर देने के मुद्दे पर, लेखक का कहना है कि दिल्ली सुल्तानों, ने एक व्यापक,'धर्मनिरपेक्ष' या गैर–मजहबी राज्य कानून, जवाबित–ए मुल्की, विकसित करने की कोशिश की। जबकि साथ ही साथ उन्होंने मुस्लिम दिव्यजनों और उनके संस्थानों के सम्मान के सार्वजनिकता को बनाए रखा। इस अध्याय में दो अहम पहलू, इस्लामीकरण में सूफियों की भूमिका और राजनीति में उनकी भागीदारी (विशेष रूप से चिश्ती सूफी), को बखूबी रेखांकित किया गया है। पहले मुद्दे के लिए, वह सूफियों द्वारा नकद अनुदान की स्वीकृति को संदर्भित करता है। बेशक, सूफी अनुदान को स्वीकार करते थे लेकिन यह अवांछित दान था, और उनमें

ISSN 2349-4905

से अधिकांश ने आधिकारिक पद को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इसके अलावा, यह अध्याय समकालीन राजनीति में उनकी भागीदारी (प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष) की व्याख्या करता है। लेखक दरबार के साथ सूफियों के शिष्यों के जुड़ाव के माध्यम से राजनीति में संतों की भागीदारी को देखता है।

तीसरे अध्याय में इतिहासकार जिया–उद–दीन बर्नी के फतवा–ए–जहाँदारी, के माध्यम से गैर–मुस्लिमों के प्रतिनिधित्व की जांच करता है। वह, यहां, मुख्य रूप से, मुहम्मद हबीब के विचारों को चुनौती देता है, और पाठ के अंदरूनी विरोधाभास को सामने लाता है, जो लेखक की राय में, राष्ट्रवादी–धर्मनिरपेक्षतावादी इतिहास के अपने लेखन के कारण उद्देश्यपूर्ण रूप से दबा हुआ है। हबीब की इतिहासलेखन और व्याख्या को चुनौती देने के लिए, वह पाठ को पूरी तरह से पढ़ने के लिए सहारा लेता है और सूफी साहित्य के संदर्भों के साथ तथ्यात्मकता का प्रतिकार करता है।

चौथा अध्याय सोलहवीं सदी के अंत में हिंदुस्तान में इस्लाम के तहत विधर्मियों के सवाल को देखता है, मुख्यतः अब्दुल कादिर बदायुनी के लेखन के माध्यम से लेखक अबुल फजल सरीखे आधिकारिक आख्यानों को दिए गए अति–निर्भरता और प्रधानता की आलोचना करता है, और इतिहास के स्रोत के रूप में अबुल फजल के लेखन के भारी उपयोग का भी। अकील न केवल इस अध्याय में नई व्याख्या की पेशकश करते हैं, बल्कि मध्ययुगीन और आधुनिक इतिहासकारों के दृष्टिकोण को अपने सामान्य फैशन में बताते भी हैं। उदाहरण के लिए, वह मह्जर के मुद्दे को संदर्भित करते हैं जहां वह इस मुद्दे पर नुरुल हसन जैसे आधुनिक इतिहासकारों द्वारा उजागर की गई स्थिति बताने के साथ साथ अपना विश्लेषण देते हैं। लेखक ऐसी कई जानकारी प्रदान करता है जो विषय पर चर्चा करने के लिए प्रासंगिक है।

अध्याय पाँच में इस बहस की पड़ताल की गयी है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में (कुरान और हदीस की रोशनी में) वास्तव में इस्लामी मानदंडों/आदर्शों का गठन क्या था, और कैसे इन मानदंडों को मुस्लिम समाज में स्थापित करने की मांग की गई थी। मूल रूप से, अकील कुरान की एक हुक्म लागू करने के मुद्दे को अपनी चर्चा को आधार बनाते हैं। वह हुक्मनामा अमर–बिल–मारूफ व नहीं–अनल–मुंकिर है जिसके तहत इस्लाम में मुसलमानों को हक और न्यायपूर्ण कर्म की सिफारिश करने की सलाह दी जाती है और झूठ या गलत का खण्डन करने के लिए कहा जाता है। इस अध्याय की विमर्श शेख अब्दुल हक मुहद्दिश कृत आदाब –उस सालिहीन नामक एक मानक पाठ पर आधारित है। लेखक, यहाँ, न केवल एक नई स्रोत सामग्री बल्कि एक नवीन चर्चा का विषय भी लाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि लेखक रूढ़िवादी उलेमा की भूमिका पर चर्चा करते हुए पाठक को अस्थायी रूप से हिंडोरे में ले जाता है, जोकि रोमांचक हो जाता है। यह पाठक को विभिन्न रंगों और निर्माणों से जोड़ने में मदद करता है।

अध्याय छह समकालीन नैतिक चिंताओं के साथ साथ धार्मिक संदर्भों से संबंधित है। लेखक ने एक मुगल कवि, मीर मुहम्मद जाफर जटल्ली, के जीवन और मर्यादा के परिवर्तन की चर्चा की है। वह कवि की जीवन रेखा और स्थिति को पुनर्जीवित करने और उसे समय के ऐतिहासिक संदर्भ में रखने की कोशिश करता है। अकील लिखते हैं कि उनके कई व्यंग्य, पत्र और विभिन्न शैली की बहुत सारी रचनाएं, मुगल संस्कृति को दर्शाती हैं। ऐसी संस्कृति जो शरीयत से संचालित अदब या फारसी समाज के अभिजात वर्ग के परिष्कृतता से अलग विचलन को महत्तवपूर्ण

ISSN 2349-4905

स्थान प्रदान करती हैं (पृ. 141)। लेखक राजनीतिक उथल–पुथल के दौर में मुगल समाज को समझने में जटल्ली के काम के महत्व को भी सामने लाता है। अंतर्धार्मिक संबंधों के बारे में एक बेहतरीन विवेचना आखिरी अध्याय में की गयी है। अकील उर्दू साहित्य के माध्यम से सिख धर्म के विकास और इस्लाम के साथ इसकी अंतःक्रिया के प्रक्षेपवक्र की पड़ताल करते हैं। साथ ही इस बात की पड़ताल भी करते हैं कि नानक को इस विधा में कैसे दर्शाया गया है।

आधुनिक वैचारिक तीक्ष्णता से रहित मध्ययुगीन अतीत की बारीक समझ के वादे को पूरा करने में पुस्तक काफी हद तक सफल रही है। पुस्तक में दलील का निरूपण औपचारिक रूप से सशक्त है और कथात्मकता व्यक्ति, परिस्थितियों और परस्पर प्रक्रिया पर अपना ध्यान केंद्रित रखती है। धारा –प्रवाह शैली और परितकृत भाषा में लिखी गई पुस्तक एक दिलचस्प पाठ्य सामग्री है क्योंकि यह कुछ अछूते मुद्दों को उजागर करने के साथ–साथ विषय पर उपलब्ध सामग्री को संश्लेषित करती है। कुल मिलाकर, लेखक ने, अपनी समकालीन प्रासंगिकता और जटिलता की मर्यादा के साथ, एक विवादित अतीत की बारीक समझ प्रदान करने के लिए आख्यान और घटना के संदर्भ के औचित्य में सटीकता और समस्याग्रस्त के निर्माण में सावधानी बरती है। इस प्रयास के क्रम में न सिर्फ उन्होंने राष्ट्रवादी / मार्क्सवादी / धर्मनिरपेक्ष / बहुलतावादी इतिहासकारों के लेखन की कमियों को उजागर किया है बल्कि काफी तक हद तक एक नया नजरिया पेश किया है।

खंडित आख्यानः भारतीय जनतंत्र में अदृश्य लोग

बद्री नारायण, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ 107+xii

डॉ. अजय कुमार

बद्री नारायण ने इस पुस्तक के परिचय में दलितों के बीच जातीय विभाजन के अंतर्विरोध को रेखांकित करते हुए उत्तर भारत के दलित समूहों की राजनीति, संस्कृति और दलित लोक वृत्त बनने की निर्मिति को समझाया है वे रेखांकित करते हैं कि दलित जातियों के भीतर संख्याबल में कम दलित जातियाँ अपने ही समरूप समुदाय में सामाजिक भेदभाव का सामना करती हैं। वे भारतीय राज्य और उसकी कल्याणकारी योजनाओं में पूरी तरह से दिखाई नहीं पड़ती हैं। वे हमारे देश की नीतियों और विमर्शों, इतिहास और संस्कृति में गैर हाजिर हैं। इसी के साथ बद्री नारायण इस बात के लिए आशान्वित भी हैं कि भारतीय राज्य का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि यह हाशियाकृत जातियाँ कहाँ तक राजनीति में दीक्षित और आधुनिकीकृत हो पाती हैं। जब यह हाशियाकृत दलित जातियाँ राजनीतिक रूप से जागरूक हो जाएंगी और जनतंत्र का दरवाजा खटखटाने की हैसियत में आ जाएंगी, तब भारतीय

ISSN 2349-4905

जनतंत्र मजबूत और गहन हो जाएगा।

कांशीराम और बहुजनवाद

बद्री नारायण इस पुस्तक के माध्यम से उत्तर भारत में बनती–बिगड़ती राजनीति में कांशीराम के बहुजनवाद की चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं कि भारत के सामाजिक राजनीतिक परिदृश्य पर जब कांशीराम का उदय हुआ तो उन्होंने अपने आपको सभी दलितों के नेता के तौर पर प्रस्तुत किया। दलित जातियों के लिए एक पहचान पर आधारित एक दलित अस्मिता के निर्माण का प्रयास किया। इसके साथ ही साथ दलित शब्द को और विस्तार देते हुए कांशीराम ने इसमें अनुसूचित जातियों के साथ ही साथ अन्य पिछड़ा वर्ग को शामिल करते हुए बहुजन समाज का सिद्धांत प्रस्तुत किया। बद्री नारायण का यह मानना है कि दलित और पिछड़ी जातियों में यह एकता मण्डल कमीशन के बाद तेजी से कायम हो रही थी। इसके पहले पिछड़ी जातियों में जाति उच्चता के कारण दोनों में ऊँच–नीच का भेद था। इस तरह से कांशीराम ने अपने बहुजनवाद की राजनीति को दलितों और पिछड़ों की एकता के माध्यम से आगे बढ़ाने का प्रयास किया।

दलित जातियों के बीच आरक्षण के माध्यम से सरकारी नौकरियों में आए हुए लोग एक मध्य वर्ग का निर्माण कर रहे थे। इसी मध्य वर्ग के बीच से बौद्धिक वर्ग की निर्मिति हुई और उनके बीच में मण्डल कमीशन के बाद से इस तरह के बुद्धिजीवियों का विकास संभव हुआ। इन स्थितियों ने कांशीराम की काफी मदद की, क्योंकि इन समुदायों से उन्हें अपने लिए प्रशिक्षित कार्यकर्ता मिल गए। जिसके आधार पर उन्होंने बहुजनवाद की राजनीति को आगे बढ़ाया। फिर भी बद्री नारायण कांशीराम की इस बहुजनवाद की राजनीति में कई ऐसे समुदायों मसलन जोगी, मुसहर, डोम, डोमार, हेला, बांसोर, बहेलिया, खैरहा, कलाबाज, बलाई, मझवार, हारी, सांसीयां, कुंचबंधिया, पथरकटवा, कनखुटवा, मदारी/सपेरा, कोल, बंसफोर, चमरमंगता, नटकंजर, नट, महावत, जैसी जातियों को पीछे छूट जाते हुए देखते हैं जो संख्या की राजनीति में कम होने के कारण वोट बैंक की राजनीति में कम असर रखते हैं। इस कारण वह इस बनते हुए बहुजन समाज का हिस्सा नहीं बन पाते हैं। उनकी बात को रखने वाला उनके बीच से कोई नेतृत्व और आंगिक बुद्धिजीवी विकसित नहीं हो पाते हैं। इसलिए यह समुदाय अपनी बात को राज्य के सामने भी नहीं रख पाते हैं।

इस पूर्व पीठिका के साथ यह पुस्तक कुल छः अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय जनतंत्र का भिक्षु गीत के माध्यम से बद्री नारायण यह समझने का प्रयास करते हैं कि इस पूरी प्रक्रिया के दौरान किस प्रकार से देश की जनतांत्रिक प्रक्रियाएँ राजनीति और शासन के अखाड़े में दावेदारी कर रहे हाशिये के समुदायों को शामिल करती हैं और अपने कार्य करने के तौर तरीके से ही कई छोटी जातियों को बहिष्कृत कर देती हैं। जिन समुदायों को शक्ति मिल गयी है, वे इसे अपने ही समुदाय के अन्य लोगों के साथ साझा नहीं करना चाहते। इस तरह से उनके बीच से ही एक प्रभुत्वशील तबके का निर्माण हो रहा है। यहाँ बद्री नारायण कहते हैं कि चमार जाति, जो उत्तर–प्रदेश में एक समय बहुत हाशियाकृत जाति थी, अब राजनीतिक दृष्टि से सबसे शक्तिशाली जाति है दूसरी तरफ डोम, नट, सपेरा मुसहर, जोगी जैसी अनेक जातियाँ अभी भी राज्य और राष्ट्रीय जनतांत्रिक प्रक्रियायों का हिस्सा नहीं हैं। बहुजन समाज पार्टी से दलित समुदाय की ये छोटी जातियाँ यह कह रही हैं कि इस लोकतान्त्रिक न्याय के संघर्ष में हमे कही भूल नहीं जाना। इस न्याय की लड़ाई में हमे भी ध्यान रखना।

ISSN 2349-4905

इस तरह से पिछली बातों को आगे बढ़ाते हुए अध्याय दो 'साँप कहे या रस्सी? जनतंत्र और भारत में पहचान की राजनीति' में बद्री नारायण एक केस अध्ययन के माध्यम से अछूतों के अंदर अछूत की निर्मिति को नारा मवेशी आंदोलन के माध्यम से समझाने की कोशिश करते हैं। चमार मुख्य रूप से चमड़े का ही काम करते थे, और उनकी महिलाएं नाल काटने का काम करती थी। नाल को बोलचाल की भाषा में नारा कहते है। इन कामों की वजह से चमार अन्य जातियों के लोगों के लिए अछूत और गंदे काम करने वाले थे। चमारों को जब ये लगा कि यह दोनों ही काम उनके अछूत होने के कारण हैं, तो उत्तर भारत के चमारों ने सन 1950 में अपने जाति आधारित चमड़े के पेशे को छोड़ने के लिए नारा मवेशी आंदोलन चलाया। जब चमारों ने यह काम करने से मना कर दिया तो उस समय उत्तर–प्रदेश में चमारों के खिलाफ दमनकारी केंद्र बनाए गए। पुलिस के साथ मिलकर प्रशासन ने सवर्ण जातियों का खुलकर साथ दिया ताकि चमारों के ऊपर हिंसा की जा सके। लेकिन इस नारा मवेशी आंदोलन के बाद दलितों में एक राजनीतिक जागरूकता आयी जिससे इस समुदाय के बीच से जातीय अत्याचारों के खिलाफ़ लड़ने हेतु एक आत्मविश्वास के साथ ही साथ एक प्रकार से दलित नेतृत्व का विकास भी हुआ। इस प्रस्थिति को प्राप्त करने में अनेक कानूनों ने भी साथ दिया।

अध्याय तीन 'जनतंत्र, अपवंचना और बेदखली: उत्तर भारत में हजार किस्से' दलित समुदाय के भीतर मौजूद कई प्रकार के वृतांतों के द्वारा जनतंत्र के विकास की कहानी कहता है जिसमें लेखक ने उत्तर प्रदेश के मुसहर जाति के विभिन्न किस्सों के द्वारा जनतंत्र में भागीदारी को समझने का प्रयास किया है। मुसहर समुदाय को यह लगता है कि दलित समूहों के बीच उनकी कम दृश्यात्मकता उनकी कम संख्या के कारण है। इसलिए वह जनतंत्र में भागीदार नहीं हो पाते हैं। इसके साथ ही उनके बीच उनके समुदाय के न तो आंगिक बुद्धिजीवी ही हैं, और न ही समुदाय के नेता जो उनकी बात को राज्य के सामने रख सके। निचले तबकों के उत्थान के लिए सरकार द्वारा शुरू की गई कल्याणकारी योजनाओं तक उनकी कोई पहुँच नही है। आरक्षण के लाभ उनके लिए कोई मतलब नहीं रखते हैं।

वे कौन लोग हैं जो अपने राष्ट्र की कल्पना करते हैं? जो समुदाय अभी तक लोकतन्त्र की पहली दहलीज पर नहीं पहुंचे हैं, उनकी नजर और कल्पना में राष्ट्र की कल्पना कैसी होगी? उनका राष्ट्र कैसा होगा? इन जातियों में दलित और पिछड़े समुदाय की छोटी जातियाँ शामिल हैं। बद्री नारायण इनको कारीगर समुदाय के रूप में देखते हैं। जिनमें बंजारा, जोगी, दरोगा, रवाना, राजपूत भरभुजा, पिंजारा, गरिया, काछी, कसाई, धोबी, सपेरा, बाजीगर, खटीक, दर्जी, कुम्हार, छिपी, रंगरेज, ठठेरा, भिश्ती आदि अनेक समुदाय और जातियाँ शामिल हैं। बद्री नारायण ने इलाहाबाद के दो गाँवों के अध्ययन के आधार पर इन जातियों के हाशियाकरण को समझने का प्रयास किया है। इस अध्याय में दी गयी अधिकतर सामग्री क्षेत्रकार्य के दौरान लोगों से किए गए साक्षात्कार पर आधारित है जिसमें इन जातियों से यह जानने की कोशिश की गई कि राष्ट्र निर्माण में दलितों और पिछड़े समुदायों की क्या भूमिका थी। और राष्ट्र के विचार को प्रसारित करने में वह क्या भूमिका निभाते हैं। बद्री नारायण आगे कहते है कि दलितों ने अपने लिए अपने विचारों के प्रसार के लिए एक दलित प्रिंट यानी प्रेस का भी निर्माण किया हैं। एक आंगिक बुद्धिजीवी वर्ग जो सामाजिक–राजनीतिक चेतना से परिपूर्ण था, ने दलित मुक्ति के विचार को आगे बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के अखबार और पुस्तिकाएँ निकाली जिसके आधार पर वह एक व्यापक दलित

ISSN 2349-4905

विचार की निर्मिति कर सके, उसका प्रसार कर सके जिससे दलित आंदोलन को एक संगठित रूप प्रदान किया जा सके। यहाँ बद्री नारायण अनेक ऐतिहासिक पत्र–पत्रिकाओं के साथ ही साथ उन आंगिक दलित बुद्धिजीवियों/संपादकों और उनके द्वारा स्थापित किए गए प्रेस का विवरण भी देते है। अध्याय पाँच 'इतिहास के संग और इतिहास के बिना : अतीत की दलित पुनर्खोज' में बद्री नारायण ने इतिहास के निर्माण में दलितों के अस्तित्व की आवश्यकताओं के संदर्भ में इन समुदायों के इतिहास में बनने और बिगड़ने के वैकल्पिक संदर्भों को प्रस्तुत किया है। यह अध्याय इस बात की भी पुख्ता ख़बर लेता है कि किस तरह से दलितों ने अपने लिए इतिहास में जगह बनाने का प्रयास किया। यह इतिहास मुख्यधारा के इतिहास से अलग है। इस इतिहास निर्माण की प्रक्रिया में मुख्यधारा के इतिहास के बरक्स दलितों द्वारा प्रतिरोधी इतिहास लेखन के तहत अपने नायकों के इतिहास को लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें धार्मिक ऐतिहासिक ग्रन्थों से दलितों ने अपने लिए कुछ प्रतिरोधी चरित्रों का चुनाव किया और उसको अपनी वर्तमान स्थिति के साथ जोड़ते हुये जाति अत्याचार के साथ जोड़ने का इतिहास लिखा। यह सब नायक जो दलितों ने अपने इतिहास के आख्यान के लिए चुने थे वह सब एक समय पर उच्च जातीय वर्चस्व और शोषण के खिलाफ़ लड़े थे। इस इतिहास लेखन और निर्माण की प्रक्रिया को अधिक बल कांशीराम के आने के बाद मिला जब कांशीराम ने इस तरह के आख्यानों को अपने बहुजन समाज के निर्माण के लिए प्रयोग किया।

अध्याय छह 'संस्कृति एवं प्रतिनिधितत्व :पब्लिक कल्चर की निर्मिति' में बद्री नारायण ने इस बात को समझने की कोशिश की है की किस तरह से राज्य ने दलित और हाशियाकृत समुदायों की कला एवं संस्कृति को उपेक्षित करने का काम किया है। बद्री नारायण ने इलाहाबाद में स्थिति उत्तर–मध्य सांस्कृतिक केन्द्र के अध्ययन के माध्यम से इस अध्याय की सैद्धांतिकी तैयार की है। बद्री नारायण अपने अध्ययन में पाते हैं कि इन सांस्कृतिक केन्द्रों ने दलित समुदायों की लोककलाओं को प्रोत्साहन नहीं दिया जबकि यह उसके क्षेत्र में आने वाली लोककलाएँ

थी, जो स्थानीय थीं और जिनको बढ़ावा दिया जाना था। इन केन्द्रों ने पहले से चली आ रही और पूर्वाग्रह से ग्रसित मानसिकता के चलते बाजार आधारित संस्कृति एवं लोककलाओं को प्रोत्साहित किया।

इस तरह से समीक्ष्य पुस्तक में दलित ज्ञान की निर्मिति से लेकर बहिष्करण, हाशियाकरण, राजनीतिक गतिशीलता, जातियों की राजनीति के साथ ही साथ समकालीन दलित आंदोलन को समझने के लिए निश्चित ही एक अहम योगदान है। इस किताब की खूबसूरती इसका हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक रमाशंकर सिंह ने शब्दों का चयन बहुत ही सावधानी से किया है ताकि यह किताब बोझिल न बनने पाये और आम हिन्दी के पाठक के लिए सरल और सहज साबित हो। यह किताब सरल और सहज भाव से दलित आंदोलन के अंदर एक आलोचना का मार्ग प्रस्तुत करती है। यह आलोचना किसी नकारात्मकता को लेकर नहीं हैं बल्कि बद्री नारायण की चिंताओं में सम्पूर्ण हाशियाकृत समुदाय है जिसकी मुक्ति के लिए वह सबसे बेहतर विकल्प इन समुदायों के आंदोलन और उसकी राजनीति को ही पाते हैं। बद्री नारायण दलित राजनीति से एक अपील और सवाल करते हैं कि वह क्यों नहीं इन समुदायों को साथ लेकर एक व्यापक आंदोलन और राजनीति के फलक को बढ़ाने का काम करे जिससे इस मुक्तिकामी एजेंडे को एक नई ताकत और ऊर्जा मिले।

ISSN 2349-4905

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के उद्यान

भुवनेश्वर कुमार

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान का उद्यान देश के श्रेष्ठ उद्यानों में से एक है। यहाँ लगभग 25 माली कार्यरत हैं जो फूल–पौधों की देखरेख करते हैं। बीजाई, पौधारोपण, संस्थान के मुख्य भवन के विभिन्न कमरों में रखे गमलों को बदलना, पौधों को पानी देना उनकी साफ–सफाई करना नित्य दैनिक कार्य हैं।

संस्थान के उद्यान में विभिन्न प्रकार के फूल उगाए जाते हैं जिनमें बिगुनिया, साइकलोमिन, सिनेरिया, आर्किड, जरेनियम, मेरी गोल्ड, प्रेमुला, स्काई जेन्थस, प्रेमरोज, सालविया, गोडिशिया, अंटरहोनम, लाकसपर, कनेडुला, प्यांजी, चमेली, पेडनिया, हाईड्रेंजिया, कमेलिया, गुलाब, पेपरोनियां, चाईनीज लालटेन आदि प्रमुख हैं। बिगुनिया एक ऐसा फूल है जो कई प्रकार के रंगों में खिलता है। इस फूल को बीज द्वारा तैयार किया जाता है। साइकलोमिन भी एक ऐसी किस्म है जो 3–4 रंगों में पाई जाती है। यह भी बीज के माध्यम से तैयार किया जाता है। इसी प्रकार अन्य फूल भी विभिन्न रंगों में खिलते हैं और जिनसे संस्थान की बगिया महकी रहती है और सभी का मन मोह लेते हैं।

यूँ तो संस्थान के उद्यान में पूरा साल भर फूल देखने को मिल जाते हैं मगर विभिन्न ऋतुओं में विशेष किस्म के फूलों का अपना ही महत्व है। वसंत ऋतु को ऋतुओं का राजा माना जाता है। इस ऋतु में तो फूल खिलने की भरमार रहती है। इस ऋतु में साईकलोमिन, प्रेमुला, आर्किड, अन्टहीनम, प्यांजी, कलाकिया, पॉपी, पेडनिया, कन्डिया टपट, कनफ्लावर, स्काईजैंथस, कनेडुला, गोडेशिया आदि फूलों के पौधरोपण दिसम्बर–जनवरी में लगाए जाते हैं। ये पौधे मार्च–अप्रैल में उद्यान की शोभा बढ़ाते हैं और यहां आने वाले पर्यटकों का मन मोह लेते हैं।

वर्षा ऋतु तो सभी ऋतुओं की रानी माना जाता है। इस ऋतु में विभिन्न प्रकार के पौधे उगाए जाते हैं। बिगुनिया, फियुशिया, जरेनियम, ग्वालियस, मीमूलस, सालविया, गैंदा, जीनिया, सूरजमुखी, रूडविकिया, ताजा टी, काकर लील, टॉर्च लिली, डे लिली, आगापन्थी लिली, अलेस्टोमेरिया, कार्नेशन आदि कुछ ऐसे पौधे हैं जो जून–जुलाई में लगाए जाते हैं और अक्तूबर–नवंबर में खिलते हैं और वातावरण की सुन्दरता में चार चाँद लगा देते हैं।

संस्थान के परिसर में कई प्रकार के पुष्पदार वृक्ष भी पाए जाते हैं जो मार्च–अप्रैल में खिलते हैं। इनमें बुरांस के फूल प्रमुख हैं। जब वे खिलते हैं, तो ऐसा लगता है कि हर ओर फूलों की चादर बिछ गई हो। बुरांश के फूल देखने में सुन्दर लगते हैं, मगर इसके फूलों से बना जूस स्वास्थ्य के लिए बड़ा ही लाभकारी होता है। इसी प्रकार कमेलिया भी एक ऐसा फूल है जो सर्दियों में खिलता है जिसका उपयोग फूलदान व गुलदस्ता बनाने में किया जाता है। अकेशिया भी एक फूल वाला वृक्ष है जो पीले रंग में खिलता है। इस वृक्ष पर जब फूल खिलते हैं तो

ISSN 2349-4905

बहुत ही सुन्दर लगते हैं। मैगनोलिया भी एक ऐसा ही वृक्ष है जिसके फूल दो–तीन रंगों में खिलते हैं। यह बहुत ही दुर्लभ वृक्ष है।

संस्थान के परिसर में अनेक ऐसी बेलें/झाड़ियाँ हैं जिनमें अलग–अलग रंगों में फूल खिलते हैं। इन झाड़ियों में खिलने वाले फूलों का समय भी अलग–अलग है। इन झाड़ियों से सजावट के लिए अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। बानशिया रोज, टिकोमा, हनीसिकल, चमेली, विस्टेरिया आदि इसी श्रेणी की बेले हैं।

संस्थान के उद्यान का ऐसा भाग भी है जिसे गुलाब वाटिका के नाम से जाना जाता है। इस वाटिका में में अनेक किस्म के गुलाब के पौधे लगे हैं जिन पर अलग–अलग रंगों में फूल खिलते हैं। यह गोलाकार गुलाब वाटिका है जहां पर टहलने का अपना ही आनंद है। इस वाटिका में संस्थान में आयोजित कला कार्यशाला में एक कलाकार द्वारा बनाई गई ऐतिहासिक नर्तकी की प्रतिकृति भी स्थित है। इस वाटिका को चारों ओर से वानशिया रोज लगाकर सजावटी आकृति दी गई है।

संस्थान के उद्यान में पौधों को तैयार करने के लिए एक नर्सरी भी है जहाँ उद्यान अधिकारी तथा गार्डन चौधरी की देखरेख में सभी माली कार्य करते हैं। इस नर्सरी में ही सब प्रकार के पौधों व गमलों को तैयार किया जाता है। वहाँ गमलों के लिए मिट्टी तैयार की जाती है। इस मिट्टी को बनाने में भी काफी समय लगता है। बान वृक्ष के सड़े हुए पत्तों को कूटकर बारीक किया जाता है। फिर उसमें चिकनी मिट्टी, बुझा हुआ चूना, कच्चे कोयले की केरी, गोबर और रेत मिलाकर मिश्रण तैयार किया जाता है। इस मिश्रित मिट्टी को गमलों में आवश्यकतानुसार डालकर आगे की कार्यवाही शुरू होती है।

कहना न होगा कि संस्थान का उद्यान एशिया में सबसे ऊँचाई पर बने उद्यानों में से एक है। यहाँ न सिर्फ शोधकार्य करने वाले अध्येताओं, सह–अध्येताओं तथा अधिकारियों व कर्मचारियों को उद्यान में खिले फूल लुभावने लगते हैं अपितु यहाँ आने वाले देश–विदेश के पर्यटकों का भी मन मोहते हैं।

ISSN 2349-4905

आज़ादी और राजनीति

डॉ. मीनू अग्रवाल

एक दिन मुझ राह में,
मिल गई आज़ादी
कुछ चकित सी कुछ भ्रमित सी
और थी कुछ घबराई।

जब मैंने पूछी कठिनाई
वह बोली....,
इस देश ने मुझे पाने को
लड़ी है बड़ी लड़ाई
कितने ही बेघर हुए
कितनों ने जान गंवाई।

लेकिन एक बात...,
मेरी समझ में नहीं आई
जिसके पीछे कल के दुश्मन भी
बने हैं भाई–भाई
क्या है इसका मतलब?
कुछ मुझको भी बतलाओ
क्या है इसके मायने
मुझको भी समझाओ।

मैंने कहा, देवी
राज करने की नीति को ही
राजनीति कहते हैं
दोस्ती और दुश्मनी की तो
बात बीती कहते हैं
आज तो हर किसी का
यही एक है सपना
जो भी राज दिलवादे
वहीं लगे अब अपना।

वह बोली जागो
जागो वरना पछताओगे
आज मेरा अपमान करोगे
कल राज कहां पाओगे
भारत मां का आंचल
बहुत बड़ा है,
सब हैं इसके बच्चे
इसको खुशहाली से भर दो
तभी सपूत हो सच्चे।

ISSN 2349-4905

संस्थान की अकादमिक गतिविधियों एवं राजभाषा के प्रचार-प्रसार की रिपोर्ट

(जुलाई-दिसम्बर 2018)

राजेश कुमार

संस्थान के अध्येता मुख्यतः संस्थान द्वारा अनुमोदित विषय–वस्तु पर अपना शोधकार्य करते हैं। यह अध्येतावृत्ति शासी निकाय द्वारा अध्येतावृत्ति निर्णय समिति की सिफारिशों के अनुरूप प्रदान की जाती है। शासी निकाय चाहे तो किसी भी सुविख्यात विद्वान को अध्येता के रूप में आमंत्रित कर सकती है। रिपोर्ट की अवधि के दौरान निम्नलिखित अध्येता विभिन्न परियोजनाओं पर शोधकार्य कर रहे थे–

क्रमांक	अध्येता का नाम	*शोध परियोजना*
1.	प्रोफ़ेसर सुजाता पटेल, राष्ट्रीय अध्येता	*सोशियालिजी इन इण्डिया : इट्स डिस्पिलिनैरी हिस्ट्री*
2.	प्रोफ़ेसर रमेश चन्द्र प्रधान, राष्ट्रीय अध्येता	*ए पैराडाइम ऑफ इंटैग्रल ह्युमनिज़्म इन इण्डियन थॉट्स*
3.	डॉ. करिश्मा लैप्चा, अध्येता	*रिलीजन, कल्चर एण्ड आइडैंटिटी ऑफ द लैप्चा इन ईस्टर्न हिमालय*
4.	डॉ. सुतपा दत्ता, अध्येता	*डिस्पिलिंड सब्जैक्टस : एजुकेशन एण्ड सब्जैक्टिविटी इन कोलोनिअल बंगाल*
5.	डॉ. हरिप्रिया सोइबम, अध्येता	*द पोयट एज विटनेस : एन्काउंटरिंग एथनोग्राफी थ्रू पोयट्री*
6.	डॉ. निम्मी एच.एम., अध्येता	*रीलिजन, लिटरेचर एण्ड द अदर : इन्टरप्शनस, इन्टरवेन्शनस एण्ड इन्वेन्शन*
7.	प्रोफेसर नारायण मुण्डोली, अध्येता	*अ स्टडी ऑफ कुटियाट्टम : द ट्रेडिशनल संस्कृत थियेटर ऑफ केरला*
8.	डॉ. देबजानी हल्दर, अध्येता	*आर्ट, आर्टिस्टस एण्ड सोशल लाइफ : अ क्रिटिकल लुक एट इण्डियन पैरलल सिनेमा (1950 टू 1980)*
9.	डॉ. बिन्दु साहनी, अध्येता	*शिवालिक इरोजन एण्ड पैस्ट्रोरेलिस्टस गुज्जर ऑफ हिमाचल प्रदेश : अ स्टडी इन द लाइट ऑफ कॉलोनिअल पॉलिसीज इन द रीज़न*

ISSN 2349-4905

10.	डॉ. अश्विन परिजात, अध्येता	*रि–एन्चैंटिंग मॉडरनिटी : अ स्टडी ऑफ स्वामी विवेकानंदा'ज अमेरिकन एंगेजमेंट*
11.	डॉ. शर्मिला छोटराय, अध्येता	*सिचुएशन पापुलर थियेटर इन वेरिड सोशल हिस्टरीज : अ कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ जात्रा इन बंगाल, ओड़िशा आसाम एण्ड त्रिपुरा*
12.	डॉ. अनीता सिंह, अध्येता	*द पोस्टकोलोनिअल इण्डियन फैमिनिस्ट स्टेज इनवेस्टिगेटिंग द एम्बॉडिड प्रेजेंस एज पॉलिटिकल एक्ट*
13.	डॉ. सतेन्द्र कुमार, अध्येता	*पापुलर डेमाक्रेसी इन नॉर्थ इण्डिया : एन एथनोग्राफिक स्टडी ऑफ कल्चर, आइडेंटिटी एण्ड पॉलिटिक्स अमंग द अदर बैकवर्ड क्लासेज*
14.	डॉ. इरिना कथावा, अध्येता	*द डॉक्ट्राइन ऑफ लाइट एण्ड सिम्बलस ऑफ विंग्ड स्प्रिचुअल बीइंग्स इन इस्लामिक आर्ट*
15.	प्रोफेसर जगदीश लाल दावर, अध्येता	*हिस्ट्री ऑफ फूड इन नॉर्थ इण्डिया : मिजोरम सिन्स प्री–कोलोनिअल टाइम्स*
16.	डॉ. रत्नाकर त्रिपाठी, अध्येता	*ए कम्पेरिटिव स्टडी ऑफ द रीजनल म्यूजिक इन्डस्ट्रीस इन हिन्दी–स्पीकिंग इण्डिया : विद स्पेशल फोकस ऑन हिमाचल प्रदेश, बिहार एण्ड हरियाणा*
17.	सुश्री प्राची दुबले, अध्येता	*टूवर्डस ए थिएटरिकल फ्रेमवक्र ऑफ आदिवासी म्यूजिक : स्टडीइंग द म्यूजिकल ट्रेडिशन ऑफ रथवा आदिवासी, अ रिप्रेजेंटेटिव ट्राइब लिविंग ऑन बॉर्डर्स ऑफ महाराश्ट*
18.	डॉ. सुमन्यु सतपथि, अध्येता	*इन प्रिंट : द रोल ऑफ द अर्ली पीरियडिकल प्रैस इन शेपिंग मॉडर्न ओड़िया लिटरेरी कल्चर*
19.	डॉ. आर. ललिता राजा, अध्येता	*सिग्निफिकेंस ऑफ ऑप्टिलिटी थिअरी इन फोनोलोजिकल एक्यूजिशन एण्ड इन असैस्समेंट एण्ड इंटरवेन्शन ऑफ फोनोजिकल डिस्ऑर्डर्स*
20.	डॉ. आदित्य प्रताप देव, अध्येता	*राइटिंग ट्रांस–टैम्परेलिटी इनटू हिस्ट्री : टाइम एण्ड पॉलिटिक्स इन द ऑरल ट्रैडिशनस ऑफ द मिक्स्ड ट्राइब–कास्ट कम्युनिटीज ऑफ द प्रिसली स्टेट ऑफ कांकर, सदरन छत्तीसगढ़।*
21.	डॉ. लियोन मोरेनस, अध्येता	*मोहल्लास एण्ड स्मार्ट सिटीज : पोस्ट कोलोनिअल डिवेलप्मेंट इन डेलही।*
22.	प्रोफेसर त्रिलोकी सिंह, अध्येता	*बाउंसिंग एण्ड साइक्लिक मॉडल्स ऑफ द यूनिवर्स।*

 ISSN 2349-4905

23.	डॉ. आनंद कुमार, अध्येता	*इण्डिया : बिटवीन डेमोक्रेटिक नेशन–बिल्डिंग एण्ड डोमिनेंट कास्टस' डेमोक्रेसी।*
24.	प्रोफेसर के.एम. बहरूल इस्लाम, अध्येता	*माइग्रेंट म्यूज : द थर्ड स्पेस इन असमीज लिट्रेचर।*
25.	प्रोफेसर माधवन पी., अध्येता	*मीनिंग इन लैंग्वेजेज : अ कम्पेरिजन ऑफ द डोमिनेंट थीमस एण्ड देयर ट्रीटमेंट इन द वेस्टर्न एण्ड इण्डिया/संस्कृत ट्रैडिशन।*
26.	डॉ. जे. रंगास्वामी, अध्येता	*ए ट्रांसलेशन एण्ड कमेंटरी अपान तिरूविमोइल ऑफ नाम्मीवर विद इट्स ±×U 36,000 PA×I कमेंटरी ऑफ वाxअक्कुतिरूव ± तिपाआई इन्टू इंग्लिश।*
27.	डॉ. गिरिजा के.पी., अध्येता	*नॉलेज एण्ड सब्जैक्टस : सिचुएटिंग आयुर्वेदा थ्रू लाइफ स्टोरीज ऑफ प्रैक्टिशनर्स*
28.	डॉ. अजय कुमार, अध्येता	*दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन : वैकल्पिक अधीनस्थ समाजशास्त्र की तलाश में (एक समीक्षात्मक मूल्यांकन)*
29.	डॉ. मैथ्यू अक्कांद वर्गीस, अध्येता	*ग्लोबलाइज़िग स्टेट्स : द मैटफर्स फ्रॉम इकॉलजीज इन द मेकिंग।*
30.	श्री आशुतोष भारद्वाज, अध्येता	*नॉवेल रिसर्च ऑन क्लासिकल एण्ड कंटेम्परेरी लिटरेरी थीअरीज एण्ड डिवाइसेज।*
31.	डॉ. डम्बरूधर नाथ, अध्येता	*निर्गुण भक्ति इन ईस्टर्न इण्डिया : आइडियोलिजी, प्रोटैस्ट एण्ड आइडैंटिटी– स्टडी ऑफ मायामारा सब–सैक्ट ऑफ आसाम।*
32.	डॉ. मनीषा चौधरी, अध्येता	*द हिस्ट्री ऑफ थार : इन्वायरन्मेंट कल्चरल एण्ड सोसायटी।*
33.	डॉ. रेखा चौधरी, अध्येता	*सोशल डाइवर्सिटी एण्ड पॉलिटिकल डाइवर्जेंस इन जम्मू एण्ड कश्मीर आइडैंटिफाइंग द कम्प्लैग्जिटी ऑफ कन्फ्लिक्ट सिचुएशन एण्ड द फार्मेट फॉर इट्स रेस्टोरेशन।*
34.	डॉ. संघमित्रा संधू, अध्येता	*स्पीकिंग सब्जैक्टस : लाइफ– राइटिंग फ्रॉम बिलो।*
35.	डॉ. रमाशंकर सिंह, अध्येता	*नेचुरल रिसोर्सेज एण्ड मार्जिनल कम्युनिटीज : सोशल एण्ड कल्चरल सिम्बायोसिस ऑफ रीवर्स एण्ड निषादाज इन प्री–कॉलोनियल इण्डिया*

अकादमिक कार्यक्रम

इस अवधि के दौरान संस्थान में निम्नलिखित अकादमिक कार्यक्रम आयोजित किए गए–

रवीन्द्रनाथ टैगोर स्मृति व्याख्यान

5वाँ रवीन्द्रनाथ टैगोर स्मृति व्याख्यान 14 नवम्बर 2018 को दिल्ली स्थित इण्डिया इंटरनेशनल सेंटर

ISSN 2349-4905

में आयोजित किया गया। इस अवसर पर पद्मश्री प्रोफेसर रमेश चन्द्र शाह ने 'पावनता का पुनर्वासः स्वधर्म व काल–गति' विषय पर व्याख्यान दिया।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् स्मृति व्याख्यान

संस्थान में 23 वाँ डॉ. सर्वपल्ली राधाकृशणन् स्मृति व्याख्यान 27 दिसंबर 2018 को आयोजित किया गया। प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाकार समिति के अध्यक्ष एवं नीति आयोग के सदस्य श्री बिबेक देबरॉय ने *'द धर्मा ऑफ ट्रांसलेशनः संस्कृत क्लासिक्स इन कंटेम्परेरी टाइम्स'* विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत किया।

विशेष व्याख्यान शृंखला

इण्डिक अकादमी के संस्थापक श्री हरि किरण वी. ने ''स्ट्रेटिजिक फॉर लिवरेजिंग इण्डियाज सॉफ्ट पावर'' नामक विशेष व्याख्यान शृंखला के उद्घाटन के अवसर पर 7 दिसम्बर 2018 को व्याख्यान प्रस्तुत किया।

समसामयिक सम्बद्धता तथा मूलभूत सैद्धान्तिक महत्व पर निम्नलिखित अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, सम्मेलनों, परिसंवाद और अध्ययन सप्ताहों का आयोजन किया गया–

- ''एग्जिजैंसी इन द फील्ड ऑफ स्पीच–लैंग्वेज पैथाअलजी इन इण्डिया'' विषय पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी (7–9 मई 2018)
- ''रेलवेंस ऑफ त्रिगुणा थीअरी इन कंटेम्परेरी वर्ल्ड'' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी (3–4 अक्तूबर 2018)
- ''रीजंस एण्ड द सेंटर : इमर्जिंग डायनामिक्स ऑफ फैडरल इण्डिया सिंस द 1990'' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी (9–11 अक्तूबर 2018)
- ''द ट्विन एपिक्स ऑफ तमिल, शिलपदतीकारम् तथा मणिमेखलै'' विषय पर विचार–गोष्ठी (29–30 अक्तूबर 2018)
- ''द दलित मूवमेंट इन नॉर्थ इण्डिया : थीअरी, प्रैक्सिस एण्ड चैलेंजेज'' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी (26–28 नवंबर 2018)
- ''गाँधी एण्ड हिज कंटेम्परेरीज : लाइफ एण्ड थॉट्स'' विषय पर शरद स्कूल (1–15 दिसम्बर 2018)
- ''पापुलर इमेजनरीज एण्ड डिस्कोर्सिस ऑन पॉलिटिक्स इन इण्डिया : एक्स्पलोरिंग कल्चरल नैरेटिवस एज अल्टरनेटिव साइटस ऑफ नॉलेज कन्स्ट्रक्शन'' विषय पर कार्यशाला (8–9 फरवरी 2019)

उपर्युक्त के अतिरिक्त रिपोर्ट की अवधि के दौरान संस्थान के अध्येताओं, आगंतुक विद्वानों, आगंतुक प्राध्यापकों तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से चलायमान मानविकी एवं समाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में एक अंतरविश्वविद्यालय केन्द्र (आईयूसी) के तहत सह–अध्येताओं द्वारा विविध विषयों पर संगोष्ठियां, प्रस्तुत की गईं। अन्य अकादमिक कार्यक्रमों में सुश्री शोमा चौधरी, कमीशनिंग मैनेजर, रूटलेज इंडिया, टेलर एंड फ्रांसिस ग्रुप ने 11 अक्टूबर 2018 को संपादकीय कार्यशाला/प्रस्तुति तथा राजदूत रूडी वारजरी (सेवानिवृत्त), कोलंबिया में भारत के पूर्व राजदूत, इक्वाडोर एवं कोस्टा रिका ने 13 अप्रैल 2018 को ''एक्ट ईस्ट पॉलिसी एण्ड इम्प्लीकेशन फॉर नॉर्थ–ईस्ट'' विषय पर एक विदेश नीति व्याख्यान शृंखला प्रस्तुत की।

 ISSN 2349-4905

'हिन्दी दिवस' समारोह

प्रतिवर्ष की भाँति भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 14 सितम्बर 2018 को 'हिन्दी दिवस' समारोह बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। समारोह का आयोजन सचिव श्री प्रेम चंद की अध्यक्षता में संस्थान के संगोष्ठी कक्ष में किया गया। इस अवसर पर संस्थान के सभी अध्येता, सह–अध्येता, अधिकारी व कर्मचारी उपस्थित थे। संस्थान के हिन्दी अनुवादक श्री राजेश कुमार ने उपस्थित सभी सभासदों को स्वागत किया और सितम्बर 2018 के दौरान राजभाषा हिन्दी के प्रचार–प्रसार व उसके व्यावहारिक प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए संस्थान में आयोजित हो रही गतिविधियों की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए बताया कि संस्थान में हिन्दी की विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जा रहा है तथा सरकारी कामकाज में मूलतः हिन्दी में टिप्पण/आलेखन के लिए गृह मंत्रालय (राजभाषा विभाग) भारत सरकार द्वारा चलाई प्रोत्साहन योजना के तहत दस अधिकारियों/कर्मचारियों को प्रोत्साहन राशि तथा प्रशस्ति–पत्र देकर सम्मानित किया जाएगा।

संस्थान में अध्ययनरत राष्ट्रीय अध्येता प्रोफेसर रमेश चन्द्र प्रधान ने इस अवसर पर कहा कि हिन्दी मात्र साहित्यिक भाषा नहीं है अपितु हमारे दर्शन और संस्कृति की धरोहर भी है। हिन्दी एक समृद्ध और सशक्त भाषा है परंतु इसके व्यापक प्रचार–प्रसार की आवश्यकता है। प्रोफेसर प्रधान ने मॉरीशस में हुए 11वें विश्व हिन्दी सम्मेलन के सफल आयोजन का उल्लेख करते हुए कहा कि हिन्दी विश्वभाषा का रूप धारण कर रही है। उन्होंने कहा कि जब देश के प्रधानमंत्री यूएनओ या अन्य वैश्विक मंचों पर हिन्दी में संबोधित करते हैं तो देशवासियों का शीर्ष गौरव से ऊँचा हो जाता है।

संस्थान के अध्येता डॉ. रमाशंकर सिंह ने 'हिन्दी और अकादमिक जगत' विषय पर अपना संबोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने चिंता जाहिर की कि सक्षम, समृद्ध और वर्तमान व्यावसायिक परिप्रेक्ष्य में इतना महत्व होने के बावजूद हिन्दी को उच्च शिक्षा और शोधकार्यों में अभी तक वह स्थान नहीं मिला है जिसकी वह हकदार है। उन्होंने अपील की कि हिन्दी माध्यम से उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे विद्यार्थियों के साथ किसी स्तर पर सौतेला व्यावहार नहीं होना चाहिए।

अध्येता डॉ. मनीषा चौधरी ने हिन्दी के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए बताया कि किस प्रकार हिन्दी ने आदिकाल से लेकर विभिन्न विधाओं के माध्यम से आधुनिक हिन्दी का एक सक्षम और समृद्ध स्वरूप ग्रहण किया है।

श्री आशुतोष भारद्वाज, अध्येता ने कहा कि वैसे तो सभी भाषाओं का दिवस होना चाहिए मगर हिन्दी हमारी मातृभाषा है, इसे हमें बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाना चाहिए। अंग्रेजी में हम भले जितना भी पढ़–लिख जाएँ मगर जो अभिव्यक्ति हम हिन्दी के माध्यम से कर सकते हैं, वह किसी अन्य भाषा में नहीं। उन्होंने हिन्दी के साथ–साथ देश की अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का भी सम्मान करने और उनका भी

ISSN 2349-4905

दिवस मनाने का अनुरोध किया।

अध्येता परिषद के संयोजक डॉ. अजय कुमार ने इस अवसर पर कविता पाठ के माध्यम से हिन्दी और उर्दू भाषा के परस्पर गहन संबंधों को उद्घाटित किया जबकि श्री रवि रंजन, प्रकाशन प्रभारी ने हिन्दी के महत्ता पर कविता प्रस्तुत की।

इस समारोह में संस्थान द्वारा प्रकाशित हिन्दी पत्रिका 'हिमांजलि' के संयुक्तांक 16–17 का भी विमोचन किया गया। हिन्दी में प्रकाशित संस्थान की एकमात्र पत्रिका में संस्थान के अध्येताओं, सह–अध्येताओं, अधिकारियों व कर्मचारियों द्वारा विविध विषयों पर आलेख शामिल किए जाते हैं तथा हिन्दी भाषा के प्रचार–प्रसार की दृष्टि से पत्रिका को देश–विदेश में भेजा जाता है।

अध्यक्षीय उद्बोधन में संस्थान के सचिव श्री प्रेम चंद ने कहा कि संस्थान के कार्यालयी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग लगातार बढ़ा है और संस्थान हिन्दी के प्रयोग के व्यावहारिक क्रियान्वयन हेतु भारत सरकार से प्राप्त सभी दिशा–निर्देशों की अनुपालना में कृतसंकल्प है। उन्होंने कहा कि ISSN नंबर प्राप्त संस्थान की मात्र एक हिन्दी पत्रिका 'हिमांजलि' को और अधिक स्तरीय बनाने का प्रयास किया जाएगा और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से भी इसे सूची में सम्मिलित किए जाने का अनुरोध किया गया है। समारोह में उपस्थित सभी अधिकारियों व कर्मचारियों से उन्होंने अपील की, कि वे भारत सरकार द्वारा राजभाषा के प्रगामी प्रयोग हेतु निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप सरकारी कामकाज करें।

संस्थान की आवासीय चिकित्सा अधिकारी डॉ. मीनू अग्रवाल ने सभी अतिथियों, वक्ताओं एवं उपस्थित सभासदों का आभार व्यक्त किया। समारोह का मंच–संचालन हिन्दी अनुवादक श्री राजेश कुमार ने किया और इस समारोह का समापन राष्ट्रगान के साथ हुआ।

राजभाषा हिन्दी का वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह

संस्थान में 14 दिसम्बर 2018 को राजभाषा हिन्दी का वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह हर्षोल्लास के साथ

14 सितंबर 2018 को आयोजित हिन्दी समारोह में संस्थान की अध्येता डॉ. मनीषा चौधरी तथा राष्ट्रीय अध्येता प्रोफेसर रमेश चन्द्र प्रधान संबोधित करते हुए। (बाएं से दाएं)

संस्थान के सचिव श्री प्रेम चंद संबोधित करते हुए। हिन्दी पत्रिका हिमांजलि का लोकार्पण ।

संस्थान की अध्येता श्री आशुतोष भारद्वाज तथा आवासी चिकित्सा अधिकारी डॉ. मीनू अग्रवाल संबोधित करते हुए। (बाएं से दाएं)

मनाया गया। समारोह का शुभारंभ, श्री राजेश कुमार, हिन्दी अनुवादक के स्वागत–भाषण से हुआ। इस अवसर पर उन्होंने राजभाषा के प्रचार–प्रसार हेतु वर्ष 2018 के दौरान आयोजित विभिन्न गतिविधियों की रिपोर्ट प्रस्तुत की।

इस समारोह में संस्थान के निदेशक प्रोफेसर मकरंद आर. परांजपे तथा शासी निकाय के उपाध्यक्ष प्रोफेसर चमनलाल गुप्ता ने विभिन्न प्रतियोगिताओं के विजेताओं तथा प्रतिभागियों को पुरस्कार तथा प्रशस्ति पत्र प्रदान कर सम्मानित किया। समारोह में संस्थान के अध्येता, महात्मा गाँधी पर आयोजित शरद स्कूल के प्रतिभागी, अधिकारी व कर्मचारी उपस्थित थे। संस्थान में प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी हिन्दी पखवाड़े के दौरान राजभाषा के प्रचार–प्रसार के

 ISSN 2349-4905

उद्देश्य से हिन्दी की विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया था, जिनमें 'शब्द ज्ञान व अनुवाद' निबन्ध, सुलेख एवं श्रुतलेख, कविता पाठ और वाद–विवाद प्रमुख प्रतियोगिताएं थीं।

इसके अतिरिक्त इस समारोह में सरकारी कामकाज में मूलतः हिन्दी भाषा में टिप्पण/आलेखन के लिए गृह मंत्रालय (राजभाषा विभाग), भारत सरकार द्वारा चलाई जा रही प्रोत्साहन योजना के तहत दस अधिकारियों/कर्मचारियों को प्रोत्साहन राशि तथा प्रशस्ति–पत्र देकर भी सम्मानित किया गया।

संस्थान के निदेशक प्रोफेसर परांजपे ने कहा कि 'गाँधी एवं उनके समकालीन' विषय पर चल रहे शरद स्कूल में राजभाषा हिन्दी का आयोजन किया जाना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हिन्दी भाषा के प्रति गाँधीजी के योगदान को हम भुला नहीं सकते। उन्होंने कहा इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे अन्य भाषाओं के पक्ष में नहीं थे बल्कि 'हिन्द स्वराज' नामक प्रसिद्ध पुस्तक उन्होंने मूलतः गुजराती में लिखी थी। प्रोफेसर परांजपे ने आगे कहा कि संस्थान हिन्दी के साथ भारत की सभी भाषाओं के उन्नयन के लिए प्रतिबद्ध है।

संस्थान की शासी निकाय के उपाध्यक्ष प्रोफेसर चमनलाल गुप्ता ने कहा कि हिन्दी में शिक्षा प्रदान किया जाना भारतीय मूल्यों के विकास एवं संवर्द्धन के लिए आवश्यक है। हिन्दी वास्तव में आत्मीयता और सहजता की भाषा है।

शरद स्कूल के संयोजक प्रोफेसर सुधीर कुमार ने कहा कि हिन्दी जोड़ने की भाषा है। महात्मा गाँधी, राजगोपालचारी और गुरूदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने उनकी बात का न केवल समर्थन किया बल्कि हिन्दी भाषा के विकास के लिए काम किया। इसी क्रम में आर्य महिला पी.जी. कालेज, वाराणसी के डॉ. विश्वनाथ मिश्र ने कहा कि हिन्दी हमारी संस्कृति और परिष्कार की भाषा है हमारा दायित्व है कि इसे हम व्यवहार में लाएँ।

संस्थान के सचिव श्री प्रेम चंद ने धन्यवाद ज्ञापित किया और कहा कि संस्थान गृह मंत्रालय और मानव संसाधन विकास मंत्रालय के राजभाषा विभाग/प्रभाग द्वारा जारी हिन्दी के प्रयोग संबंधी सभी दिशा–निर्देशों को अनुपालन करता है। संस्थान में नियमित तौर पर राजभाषा कार्यान्वन समिति की बैठकें आयोजित की जाती हैं और तिमाही रिपोर्ट भी समय मंत्रालय व नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति को प्रेषित की जाती हैं। इस अवसर पर उन्होंने यह चिंता भी जाहिर की कि हमारे देश में अभी भी हिन्दी के नाम मात्र के जर्नल प्रकाशित होते है। आवश्कता है कि अकादमिक समुदाय अधिक से अधिक हिन्दी में छापने का प्रयास करे। उन्होंने अधिकारियों व कर्मचारियों का आह्वान किया कि वे राजभाषा के प्रगामी प्रयोग हेतु निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप सरकारी कामकाज संपादित करें।

वहीं दूसरी ओर संस्थान में शरद स्कूल के 14वें दिन प्रोफेसर अजित सिंह ने चौधरी छोटू राम पर व्याख्यान दिया। उन्होंने बताया कि सर छोटू राम स्वतन्त्रता आंदोलन मे और उसके पश्चात पंजाब प्रान्त के किसानों के हित मे लड़ते रहे। वे लोकतान्त्रिक विचारों को प्रश्रय देने वाले व्यक्ति थे और गाँधी के स्वराज को आधार मानकर ग्रामीण जनता की सामाजिक–आर्थिक स्थिति मे सुधार लाने हेतु प्रयत्नशील रहे। सर छोटू राम गाँधी के सत्याग्रह मे तो विश्वास करते थे किन्तु उन्हे गाँधी के 'असहयोग' से पूर्ण सहमति नहीं थी। सर छोटू राम सभी प्रकार के सम्प्रदायवाद के खिलाफ थे और हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रतीक बनकर उभरे थे। वे नौकरशाही की प्रवृति के विरूद्ध आजीवन संघर्ष करते रहे।

 ISSN 2349-4905

संस्थान के सचिव श्री प्रेम चंद तथा गाँधी–शरद स्कूल के संयोजक प्रोफेसर सुधीर कुमार हिन्दी की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए।

संस्थान के उपाध्यक्ष प्रोफेसर चमनलाल गुप्ता तथा निदेशक प्रोफेसर मकरंद आर. परांजपे हिन्दी प्रतियोगिताओं के विजेताओं को पुरस्कृत करते हुए।

प्रोफ़ेसर चमनलाल गुप्ता ने 'दीनदयाल उपाध्याय' पर व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि भारतीय राजनीति में यदि किसी को सही मायने में बहुआयामी कहा जा सकता है तो वे महात्मा गाँधी ही हैं। उन्होंने महात्मा गाँधी और सनातन परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों को आधार बनाकर ऐकात्म मानववाद की संकल्पना तैयार की। इस संकल्पना में अद्वैत तो है परंतु वह मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है अपितु ऐकात्मक मानववाद में सामाजिक–आर्थिकी एवं राजनीति में भी समाहित है। आज के वैश्वीकरण के युग मे जहाँ राष्ट्रों को अवसर की समानता तो है परंतु परिणाम की समानता नहीं है। ऐसे मे दीन दयाल उपाध्याय के एकात्ममानववाद के चिंतन की प्रासंगिकता पहले से अधिक बढ़ गयी है।

संस्थान के निदेशक प्रोफ़ेसर मकरंद आर. परांजपे ने महात्मा गाँधी पर व्याख्यान देते हुए

ISSN 2349-4905

कहा कि पटेल की मृत्यु भी उस आघात से हुई जो गाँधी के मृत्यु से उन्हें मिली थी। उन्होंने गाँधी चर्चा में कहा कि हम अभी तक हिन्दू–मुस्लिम सहअस्तित्व के फार्मूले को विकसित नहीं कर पाये हैं जिसकी ओर गाँधी ने निरंतर ध्यान दिलाया। गाँधी आज मरने के पश्चात उससे बड़े हो गए हैं जितना वे जीवित रहते हुए थे। महात्मा गाँधी ने उसी तरह से अपने जीवन की आहुति दी जिस तरह दधीचि ऋषि ने अपनी अस्थियों की दी थी।

मंच–संचालन हिन्दी अनुवादक श्री राजेश कुमार ने किया और समारोह का समापन राष्ट्रगान के साथ हुआ।

लेखकों से अनुरोध

'हिमांजलि' पत्रिका के आगामी अंक हेतु सीमित आकार की मौलिक व अप्रकाशित रचनाएं (लेख, कविता, कहानी, व्यंग्य, संस्मरण, पुस्तक समीक्षा आदि) आमंत्रित हैं। लेखकों से अनुरोध है कि वर्ड या पेजमेकर फाइल में क्रुति देव 010 फांट में टाइप की गई प्रकाशनार्थ रचनाएं rajbhasha@iias.ac.in पर भेजें। रचना भेजते समय अपना पूरा पता, परिचय तथा रचना के मौलिक व अप्रकाशित होने का प्रमाण पत्र अवश्य संलग्न करें। एक लेखक की केवल एक ही रचना स्वीकार की जाएगी और उसे पत्रिका में सम्मिलित करने का अधिकार संपादक मण्डल के पास सुरक्षित रहेगा।

ISSN 2349-4905

इस अंक के लेखकों के पते

नाम	संपर्क
डॉ. रमाशंकर सिंह	अध्येता, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला–171005 मोबाइल–7380457130 ईमेल–ram81au@gmail.com
डॉ. मनीषा चौधरी	अध्येता भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान राष्ट्रपति निवास, शिमला
डॉ. अखिलेश शंखधर	सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर, इंफाल–795003 (मणिपुर) मोबाइल–09612354531 ईमेल–shankhdharak@gmail.com
डॉ. आनन्द शुक्ल	8 बी रामपुरम, पी.ए.सी. रोड, श्याम नगर, कानपुर–208013 (उ.प्र.) मोबाइल–9450324585 / 9452962599 ईमेल–anandvssd@gmail.com
डॉ. कमलेश सिंह नेगी	सहायक प्राध्यापक, हिन्दी चन्द्रशेखर आजाद शासकीय स्नातकोत्तर अग्रणी महाविद्यालय सीहोर, मध्यप्रदेश ईमेल– kamleshnegi1234@gmail.com
डॉ. भारती	मकान नंः 1183 / 1, सैक्टर–40 बी, चण्डीगढ़–160036 मोबाइल–9781849366
डॉ. शत्रुघ्न कुमार पाण्डेय	सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, संत कोलम्बा कॉलेज, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखंड) मोबाइल–09934112046

ISSN 2349-4905

डॉ. हरीश मेहता
सहायक प्राध्यापक
एसएमटी पी.एन.आर. शाह महिला आर्टस–कॉमर्स कालेज
पालीताना–364270, गुजरात
मोबाइल–9428991284
ईमेल–harishyashesha@gmail.com

श्री धीरेन्द्र प्रताप धवल
28, ए.एन. झा छात्रावास
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज–211002
मोबाइल–9415772386

प्रोफेसेर शेखर पाठक
सम्पादक पहाड़,
परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल–263002

विनय पटेल
शोधछात्र, दृश्यकला, सौन्दर्य कला संस्थान,
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–110067
ईमेल–vinaypatelbhu@gmail.com

शिव शंकर सिंह पारिजात
डिक्सन रोड़, मुन्दीचक, भागलपुर–812002 (बिहार)
मोबाइल– 9852655991
ईमेल–shivsingh.parijat@gmail.com

डॉ. श्रवण कुमार
पीएचडी शोधार्थी
अर्थशास्त्र विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला–171005

डॉ. शिबेन कृष्ण रैणा
2/537 अरावली विहार (अल्वर)
राजस्थान– 301001
मोबाइलः 9414216124
ईमेल– skraina123@gmail.com

डॉ. सुनीता देवी
पोस्ट डाक्टोरल फेलो हिन्दी विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला–171005

शुभनीत कौशिक
सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग
सतीश चंद्र कॉलेज, बलिया, बलिया –277001
मोबाइल : 9868560452
ईमेल–shubhneetkaushik@gmail.com

ISSN 2349-4905

डॉ. शम्स तबरेज	सहायक प्राध्यापक
इतिहास विभाग
जाकिर हुसैन महाविद्यालय (सांध्यकालीन)
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. अजय कुमार	अध्येता
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

भुवनेश्वर कुमार	उद्यान अनुभाग
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

डॉ. मीनू अग्रवाल	आवासी चिकित्सा अधिकारी
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

राजेश कुमार	हिन्दी अनुवादक
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला